सामाजिक प्रतिबद्धता का स्वरूप-
प्रेमचंद और गोर्की के उपन्यासों में

SAMAJIK PRATHIBADHATHA KA SWAROOP-
PREMCHAND AUR GORKEY KE UPANYASOM MEIN

Thesis submitted to
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
for the degree of
Doctor of Philosophy

By

JAMES V. C.

Head of the Department
Prof.(Dr.) P. V VIJAYAN

Supervising Teacher
Prof. (Dr.) S. SHAJAHAN

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
KOCHI 682 022

1993

C E R T I F I C A T E

This is to certify that this THESIS is a bonafide record of work carried out by JAMES.V.C. under my supervision for Ph.D. and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any University.

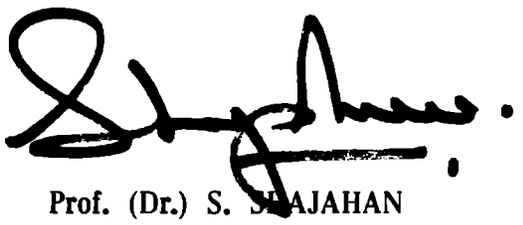

Department of Hindi

Cochin University of
Science And Technology

Kochi-682022

Prof. (Dr.) S. SHAJAHAN

(Supervising Teacher)

Date: 15 ---3--1993.

D E C L A R A T I O N

I declare that the present thesis entitled "Samajik Prathibadhatha Ka Swaroop Premchand Aur Gorkey Ke Upanyasom Mein" is a record of bonafide research carried out by me under the Supervision of Dr. S. Shajahan, Professor, Department of Hindi, Cochin University of Science And Technology. I further declare that no part of this work has hitherto been submitted for a Degree in any University.

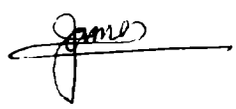

Kochi 682 022 JAMES. V. C.

15 --3-- 1993.

प्राक्कथन

"सामाजिक प्रतिबद्धता का स्वरूप - प्रेमचंद और गोर्की के उपन्यासों में" शीर्षक इस शोध-प्रबंध में प्रेमचंद और गोर्की उपन्यासों में अन्तर्निहित सामाजिक प्रतिबद्धता का अन्वेषण करने का प्रयास किया गया है । प्रमुखतया इस अध्ययन में गोर्की के चार और प्रेमचंदजी के नौ उपन्यासों का समावेश किया गया है ।

इस विषय को लेकर अध्ययन के स्वरूप को तय करते हुए शोधात्मक कार्य करने का प्रयत्न हमने किया है । अन्वेषण, विश्लेषण एवं अन्वयन को प्रस्तुत करते समय शोध की दृष्टि को बहुत ही तटस्थ और वस्तुनिष्ठ रखा गया है । उपन्यासों की रचना-धर्मिता और समाजपरकता के बीच ताल-मेल बैठाने में दोनों महान लेखकों की सामाजिक प्रतिबद्धत्मक दृष्टि कहाँ तक सफल रही है, यह अन्वेषण का मुख्य मुद्दा रहा है । अध्ययन की सुगमता को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को छः अध्यायों में विभक्त किया गया है ।

प्रथम अध्याय का शीर्षक है - "लेखन और सामाजिक प्रतिबद्धता के आयाम" । इस अध्याय में प्रतिबद्धता के विभिन्न आयामों पर गहनता से हमने विचार किया है । साथ ही सृजनात्मक लेखन को प्रतिबद्धता के संदर्भ में उभारने का प्रयास भी हमने किया है । सर्जना की मूलभूत प्रेरणा को बनाये रखने में और रचना को महान भूमिका अदा करने के लिए समर्थ बनाने में प्रतिबद्धात्मक दृष्टि किस प्रकार अपना श्रेष्ठतम दायित्व अदा करती है - यह इस अध्याय का प्रमुख विषय रहा है । आत्म-निष्ठ एवं वाद-निष्ठ प्रतिबद्धताओं को मानवता-निष्ठ प्रतिबद्धता के साथ जोडकर उसकी सार्थकता की पहचान यहाँ लक्षित की गयी है ।

दूसरा अध्याय है "प्रेमचंद के उपन्यासों में युग-चेतना" । इस अध्याय का प्रथम भाग प्रेमचंद युगीन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का एक गहन अध्ययन प्रस्तुत करता है । प्रेमचंद की लेखकीय दृष्टि को स्थापित करने में और उनके यथार्थ के बोध को गहराई प्रदान करने में तत्कालीन परिस्थितियों का योगदान आँकने के लिए यहाँ कोशिश की गयी है । इस अध्याय के दूसरे भाग में प्रेमचंदजी के उपन्यासों को युग-चेतना के संदर्भ में परखा गया है । उनके उपन्यासों में अभिव्यक्त यथार्थ के बोध को एवं उसके विभिन्न आयामों को उद्घाटित करके पात्रों में निहित संघर्षशीलता पर भी प्रकाश डालना इस अध्ययन का लक्ष्य रहा है । उनकी आदर्शोन्मुखता एवं मसीहापन को भी चर्चा का विषय बनाया गया है ।

तीसरा अध्याय "समसामयिकता और प्रेमचंद की दृष्टि" समसामयिक समस्याओं के प्रति प्रेमचंद की प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का एक अध्ययन प्रस्तुत करता है । शोषण के विभिन्न आयामों पर विचार करके भारतीय किसान, मज़दूर एवं नारी के दीन-हीन स्वरूप को उभारने की यहाँ कोशिश की गयी है । साथ ही शोषण से उत्पीडित एवं अहंग्रस्त मध्यवर्गीय जीवन के विभिन्न पक्षों को हमने अध्ययन का विषय बनाया है । समाज में व्याप्त दहेज जैसी कुप्रथाओं पर भी प्रस्तुत अध्याय में प्रकाश डाला गया है ।

चौथा अध्याय है "प्रेमचंद के उपन्यासों में सामाजिक प्रतिबद्धता । इस अध्याय के प्रथम भाग में प्रेमचंद की लेखकीय दृष्टि पर विचार हुआ है । उनके आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का विश्लेषण प्रस्तुत करके उनकी मार्क्सवादी एवं गाँधीवादी विचारधाराओं का परिचय भी यहाँ दिया गया है । इस अध्याय के दूसरे भाग में सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि के आधार पर सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, निर्मला, प्रतिज्ञा, गबन, कर्मभूमि,गोदान आदि उपन्यासों की विवेचना प्रस्तुत की गयी है । और यह स्पष्ट करने की कोशिश की गयी है कि उन्होंने साहित्यिक प्रतिबद्धता को नकारते हुए भी सामाजिक प्रतिबद्धता को अपने उपन्यासों में प्रश्रय दिया है ।

पाँचवें अध्याय का शीर्षक है "सामाजिक जीवन-बोध और मानवीय संकट का चित्रण गोर्की में ।" इस बृहत् अध्याय के प्रथम भाग में गोर्की-कालीन रूस के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परिवेशों पर विस्तार से विवेचन हुआ है । नवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी तक के रूसी इतिहास का संक्षिप्त विवरण भी इस अध्याय का प्रतिपाद्य है । रूसी जनता के शोषण की कहानी यहाँ मुखरित होती है । साथ ही गोर्की का संक्षिप्त जीवन-परिचय प्रस्तुत करके यह साबित करने की कोशिश की है कि आवारा गोर्की को विश्व के महानतम साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आवारापन से प्राप्त उनके वैयक्तिक अनुभवों को ही प्राप्त है । इस अध्याय के दूसरे भाग में तत्कालीन रूसी समाज में व्याप्त शोषण के विभिन्न आयामों को गोर्की के उपन्यासों के आधार पर मूल्यांकित किया है । इस संदर्भ में गोर्की के "फोमा गोर्देयेव", "वे तीन", "माँ", "तीन पीढी" - इन चारों उपन्यासों का कथ्यात्मक विश्लेषण करते हुए मुख्य पात्रों की विशिष्टताओं को भी रेखाँकित किया है । गोर्की के अन्तिम अधूरा उपन्यास "क्लिम समगिन की जिन्दगी" पर भी हमने विशेष ध्यान दिया है ।

छठा अध्याय है - "गोर्की के उपन्यासों में सामाजिक प्रतिबद्धता ।" इस अध्याय के प्रथम भाग में गोर्की की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि को उनके उपन्यासों के आधार पर हमने विश्लेषण का विषय बनाया है । रचना के प्रति प्रतिबद्धता को नकारे बिना ही उन्होंने समाज के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को निभाया है । उनकी सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि किस प्रकार मानवीयता के प्रति प्रतिबद्ध हुई है - यह विश्लेषण ध्यान देने योग्य रहा है । इस अध्याय के दूसरे भाग में प्रचारवाद से मुक्त गोर्की की सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि पर एवं उनकी साहित्य-साधना पर अनुशीलन प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी है । साथ ही गोर्की की सक्रिय मानवतावादी दृष्टि पर भी प्रकाश डाला गया है और इस विशिष्ट संदर्भ में उनके कुछ नाटक और कहानियाँ भी विचारणीय बन गये है ।

उपसंहार में जनवादी कलाकार प्रेमचंद और गोर्की दोनों की समानता और असमानता की दृष्टि से परखने का प्रयास हुआ है । विश्लेषण के आधार पर हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि देशगत, सांस्कृतिक एवं वैचारिक

भिन्नताएँ होने पर भी दोनों महान लेखकों में प्रवाहित मूल-चेतना एक ही है । साथ ही सामाजिक प्रतिबद्धता की दृष्टि से प्रेमचंद और गोर्की के उपन्यास अपना विशिष्ट दायित्व निभाने में सफल निकलते हैं ।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध कोचीन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, हिन्दी विभाग के प्रोफसर आदरणीय गुरुवर डॉ. एस. शाहजहाँ के निर्देशन में सम्पन्न हुआ है । इस शोध के अथ से इति तक मुझे उनसे प्रेरणा एवं प्रोत्साहन मिलते रहे । उनके पथ-प्रदर्शन के अभाव में इस शोध-प्रबन्ध की पूर्णता असंभव ही होती । मुझे उनसे दिशा एवं दृष्टि मिली है । मैं उनके प्रति आभार प्रकट करना चाहता हूँ । विभाग के अध्यक्ष प्रो. डॉ. विजयन जी के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ ।

विभाग के पुस्तकालय की अध्यक्षा श्रीमति तंपुरान के प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ । इसके अलावा मद्रास की कण्णिमेरा पब्लिक लायब्रेरी, तिरुवनन्तपुरम् के सोवियत सांस्कृतिक भवन जैसी संस्थाओं के पुस्तकालय के अध्यक्षों के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ । इसके अलावा इस शोध-प्रबंध की पूर्ति के लिए जिन गुरुजनों और मित्रों से मुझे प्रेरणा एवं सहायता मिली है, उन सबके प्रति मैं आभारी हूँ ।

इस शोध प्रबंध को यथासंभव त्रुटिहीन बनाने का प्रयास मैंने किया है । लेकिन यह भी मानता हूँ कि किसी भी प्रयास में कमियों का आना स्वाभाविक है । उन कमियों के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ ।

जेम्स. वी. सी.

हिन्दी विभाग,
कोचीन विज्ञान व प्रौद्योगिक
विश्वविद्यालय, कोची - 682022
तारीख मार्च, 1993.

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

प्राक्कथन

पहला अध्याय - 1 - 16

लेखन और सामाजिक प्रतिबद्धता के आयाम

भूमिका - प्रतिबद्धता को स्थापित करने वाले तत्व - प्रतिबद्ध लेखन की सीमाएँ - सामाजिक प्रतिबद्धता - एक विश्लेषण - युग चेतना और प्रतिबद्धात्मक लेखन - निष्कर्ष ।

दूसरा अध्याय - 17 - 55

प्रेमचंद के उपन्यासों में युग-चेतना

प्रेमचंद का युग - सामाजिक स्थिति - आर्थिक स्थिति - धार्मिक स्थिति - राजनीतिक स्थिति - प्रेमचंद के उपन्यास - युग चेतना के संदर्भ में - यथार्थ का बोध - पात्रों की विपन्नता और संघर्ष - मुक्ति का संदेश - समस्याएँ और समाधान - मसीहा का रूप - यथार्थ का अन्वेषण - परिवर्तन का आह्वान ।

पृष्ठ–संख्या

तीसरा अध्याय - 56 - 68

समसामयिकता और प्रेमचंद की दृष्टि

समसामयिक समस्याएँ – शोषण की समस्या – दहेज की समस्या – किसानों का शोषण – जमींदारी की भयानकता ।

चौथा अध्याय - 69 - 110

प्रेमचंद के उपन्यासों में सामाजिक प्रतिबद्धता

लेखन में प्रतिबिंबित दृष्टिकोण – सामाजिक प्रतिबद्धता – प्रेमचंद के उपन्यासों में – सेवासदन – प्रेमाश्रम – रंगभूमि – कायाकल्प – निर्मला – प्रतिज्ञा – गबन – कर्मभूमि – गोदान – समस्याओं के प्रति अभिव्यक्त प्रतिक्रिया – कुप्रथाओं के विरुद्ध संघर्ष – गरीबी की समस्या पर प्रतिक्रिया – विधवा एवं वेश्या समस्या पर प्रतिक्रिया – अन्धविश्वासों के विरुद्ध आवाज़ – शोषण के विरुद्ध आवाज – मानसिक परिवर्तन पर आधारित जीवन मूल्यों का निर्धारण – प्रतिबद्धता और समय – सापेक्ष्य निर्णय ।

पृष्ठ-संख्या

पाँचवाँ अध्याय - 111 - 167

सामाजिक जीवन-बोध और मानवीय संकट का चित्रण गोर्की में

गोर्की का समय - ज़ार का शासन - शोषण नीति और जन-जीवन - एक नई सामाजिक व्यवस्था का स्वप्न - सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक शोषण का स्वर - गोर्की के उपन्यासों में - फोमा गोर्दयेव, वे तीन (त्रिलोजिया), माँ (मात्चे), तीन पीढी (आर्तमोनोवस्कया दयेला), क्लिम समगिन की जिन्दगी (षीसन् क्लीमा साँगीना)

छठा अध्याय - 168 - 194

गोर्की के उपन्यासों में सामाजिक प्रतिबद्धता

फोमा गोर्दयेव - वे तीन - माँ - तीन - पीढ़ी - सामाजिक यथार्थवाद की दृष्टि - साहित्य-साधना - मानवतावादी दृष्टि और मानवीय मुक्ति का संदेश -

उपसंहार - 195 - 200

संदर्भ ग्रंथ सूची - 201 - 209

प्रथम अध्याय

लेखन और सामाजिक प्रतिबद्धता के आयाम

भूमिका

प्रतिबद्धता एक ऐसा शब्द है जिसकी परिभाषा साहित्यिक संदर्भों में विशिष्ट एवं अति संकीर्ण मानी जाती है । आधुनिक लेखन के आयामों पर विचार करते समय अधिकतर इस बात पर जोर दिया जाता है कि लेखक की प्रतिबद्धता कहाँ तक मानवीय संदर्भों से जुडती है और कहाँ तक उससे अलग पडती है । वैसे अंग्रेजी शब्द "कमिटमेंट"[1] के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रतिबद्धता का प्रयोग हिन्दी में होता आया है । लेकिन "कमिटमेंट" शब्द एक ऐसे अर्थ को प्रस्तुत करता है जो साधारणतया स्वीकृत साहित्यिक उद्देश्य या लक्ष्य से भिन्न एक सीमित और अत्यधिक सूक्ष्म लक्ष्यबोध की ओर हमारा ध्यान केन्द्रित करता है । इसलिए आज के संदर्भ में प्रतिबद्धता का अर्थ सामान्य न होकर विशिष्ट हो जाता है । इस पर विचार करने के पूर्व ही उस शब्द की अर्थव्याप्ति की परीक्षा करना समीचीन होगा ।

प्रत्येक लेखक से यदि यह पूछा जाय कि वह क्यों लिखता है और किसके लिए लिखता है तो प्रतिबद्धता से संबंधित या उससे अलग दोनों प्रकार की प्रतिक्रियाएं व्यक्त होने लगती हैं । साहित्यकार जब भी रचना करता है तो रचना का आधार कहीं न कहीं मानवीय संवेदना से जुडता है । इस दृष्टि से हर साहित्यकार अपनी रचना को मानवीय पक्षों से "बद्ध" किए बिना नहीं रह सकता । इस "संबद्धता" को प्रतिबद्धता कहना उचित नहीं है । प्रतिबद्धता में सिर्फ एक ही पक्ष की ओर लेखक बद्ध होता है, जबकि संबद्धता में एक से अधिक पक्ष की ओर लेखक बद्ध होता है । वस्तुत: लेखन का कच्चा माल यह मानवीय संदर्भ एवं संवेदनाएँ है जिसके अभाव में रचना नहीं की जा सकती । इसका यह अर्थ हुआ कि प्रथम एवं प्रधान रूप में हर

---

1. मानक हिन्दी - अंग्रेजी शब्द-कोश ।

लेखक मानवीय पक्षों को चित्रित किये बिना नहीं रह सकता । दूसरे शब्दों में लेखक का दायित्व मानव के किसी न किसी पक्ष पर आधारित संकल्पना पर केन्द्रित होता है । इसको नकारते हुए रचना असंभव हो जाती है । "प्रतिबद्धता है उस मनुष्य के प्रति जो प्रकृति की सबसे सराहनीय सृष्टि है और हमारी दृष्टि जितनी व्यापक होगी, रचना उतनी ही स्वीकार्य ।"[1]

लेकिन प्रतिबद्धता को सिर्फ एक बचकानी-वृत्ति ही मानकर साहित्य में उसे अस्वीकारने वाले लेखक भी हैं जिनके अनुसार प्रतिबद्धता का एकमात्र लक्ष्य साहित्यकार के स्वतंत्र विकास को अवरुद्ध करना है । "प्रतिबद्धता एक ऐसी नागफाँस है जो व्यक्ति को मात्र कुंठित करती है, उसे एक दायरे में कैद कर देती है - वह दायरा चाहे राजनीति का हो या सामाजिक मर्यादाओं का या साहित्यिक चिंतन का । मैं प्रतिबद्धता शब्द में एक विशेष अपराधवृत्ति पाता हूँ और इसीलिए मुझे लगता है कि इस घातक विष के कुपरिणामों से आज के साहित्यकार को बचना चाहिए ।"[2]

इस पक्ष के प्रस्तुतीकरण में या उसके आविष्करण में जिस दृष्टि को अपनाया जाता है वह दृष्टि एक ऐसा महत्वपूर्ण तत्व है जो लेखन की दिशा एवं संभावना को मौलिक रूप में परिवर्तित करती है । लेखन में रत रचयिता की दृष्टि कम से कम दो प्रेरणाओं से प्रभावित हो सकती है । एक वह अन्तःप्रेरणा है जिसके आधार पर वह "स्व" अनुभवों को अपनी निजी मान्यताओं के आधार पर लेखन में प्रतिष्ठित करना चाहता है । और दूसरी प्रेरणा वह है जिसका आधार किसी बाहरी दर्शन या राजनैतिक दर्शन है जिसके प्रति लेखक बंधा हुआ है । प्रथम प्रेरणा अपनी स्वानुभूतियों पर और वैयक्तिक रूचि पर या इच्छानिच्छा पर आधारित होने के कारण "स्व केन्द्रित" संबद्धता को जन्म देती है । इस तरह के लेखन में अपने प्रति,

---

1. प्रेमशंकर - दस्तावेज - अंक - 40 - पृः 19.
2. जगदीश चतुर्वेदी - दस्तावेज - पृः 20.

अपने विचारों के प्रति, भोगे हुए अपने यथार्थ के प्रति एक प्रतिबद्धता जन्म ले सकती है जो लेखक को अपने प्रति प्रतिबद्ध बना लेती है । "आज का विद्रोही साहित्यकार प्रतिबद्धता के प्रति कोई आकर्षण नहीं रखता । वह अगर किसी से प्रतिबद्ध है तो अपने आन्तरिक संघर्ष से, अपनी गुत्थियों, अपने अव्यवस्थित और बेनकाब व्यक्तित्व से ।"[1] समाज निरपेक्ष और अहं सापेक्ष इस दृष्टि में कलात्मक प्रयोग एवं प्रयोगात्मक विधान प्रतिबिंबित होता है जो कलाकार के आत्माविष्करण पर ही जोर देता है और इस कारण समाज का निर्धारित लक्ष्य उपलब्धियों से कटा हुआ होता है ।

दूसरी प्रकार की प्रेरणा से जन्म लेने वाला लेखन लेखक को अपने व्यक्तित्व से वंचित कर देता है और किसी राजनैतिक दल के समर्थन के लिए लिखने के लिए बाध्य करता है । यहाँ रचना एवं रचनाकार की दृष्टि सम्यक एवं संतुलित न रहकर उस सिद्धांत विशेष की आड में जीवन की व्याख्या करने की एकांगी दृष्टि बन जाती है । यहाँ लेखक सिद्धांत विशेष के प्रति संबद्धता दिखाता हुआ जीवन की संपूर्णता को तटस्थ रूप से देखने से वंचित रह जाता है । इस तरह की प्रतिबद्धता लेखक को वाद-विशेष के खेमे में बन्द कर देती है ।

श्रेष्ठ रचनाएं न तो लेखक की निजी अनुभूतियों के प्रति प्रतिबद्ध होती हैं न वाद विशेष के प्रति । मानवीय मूल्यों की श्रेष्ठता पर आधारित होकर कालजयी सत्य के अन्वेषण में लगे रहकर मानव मात्र के प्रति "संबद्धता" दिखाना ही महान रचना की प्रतिबद्धता है । और इस दृष्टि से उनकी प्रतिबद्धता समूची "मानवीयता" के प्रति होती है । कालजयी रचनाओं में समय और सामाजिक परिवेश की सीमाओं को लाँघकर "विश्व-जनीन" अनुभूतियों के प्रति प्रतिबद्धता दिखाई पडती है ।

जहाँ तक मानवीयता के प्रति प्रतिबद्ध होने का सवाल है, यह कहना पडता है कि मानवीयता के प्रति होने वाली "संबद्धता" वाद विशेष से मुक्त होती है और निजी वैयक्तिक अनुभवों की सीमा रेखाओं को पार कर जाती है । अक्सर

---

1. जगदीश चतुर्वेदी - दस्तावेज - पृ: 20.

यह कहा जाता है कि वाद विशेष से प्रभावित होकर ही मानवीयता के सही संदर्भों को छुआ जा सकता है । बात एक सीमा तक स्वीकार्य जँचती है । परंतु वाद-विशेष की सीमाओं से आबद्ध लेखक अपनी दृष्टि को पूर्णतया स्वतंत्र नहीं रख सकता । दूसरे शब्दों में वाद-विशेष से संबद्ध होकर लेखक किसी न किसी वर्ग, दर्शन या सिद्धांत के प्रति पूर्वाग्रहपूर्ण दृष्टि अपनाने को बाध्य बन जाता है । सिद्धांत के प्रति होने वाला मोह और पूर्वाग्रहपूर्ण दृष्टि मानवीय संदर्भों में न्याय-युक्त निर्णय लेने में बाधक बनते हैं । दूसरे शब्दों में जाने-अनजाने में वाद विशेष से संबद्धता दिखाने वाला लेखक कहीं न कहीं एक वर्ग, क्षेत्र या विभाग का शत्रु बन जाता है । यह शत्रुता मानवीय हित के लिए कल्याणकारी नहीं होती । अतः मानव मुक्ति की संभावनाओं को लक्ष्य बनाने वाले लेखक को वाद विशेष से बंदी नहीं बनाया जा सकता । संक्षेप में असली लेखन की प्रतिबद्धता उस मानवतावादी चेतना के प्रति होनी चाहिए जो देश, काल, भाषा, संस्कृति, धर्म, विश्वास एवं परंपरा की सीमा रेखाओं को तोडती हुई विश्व-मानव की मूलभूत आकांक्षाओं को स्वरबद्ध करती है । "साहित्यकार की प्रतिबद्धता जीवन के प्रति ही होनी चाहिए, न वाद-विवादों के प्रति । जीवन-यथार्थ को अपनी समग्रता में पाने में वाद-विशेष साहित्यकार का सहायक बन सकता है । लेकिन जीवन के साथ सीधा संघर्ष करने पर ही रचनाकार का वास्तविक स्वत्व उभरता है । इस संघर्ष से प्राप्त अनुभव रचना के लिए सहायक बनता है ।"[1]

विशिष्ट समाज के प्रति प्रतिबद्धता दिखाने वाले लेखक की रचनाएँ समाज विशेष की संकुचित दायरों को पार कर मानवीयता के व्यापक आयामों से जा जुडने पर उत्कृष्ट बनती है । साहित्य एवं कला के संदर्भ में भी यही बात लागू होती है । देश और काल के संकुचित सीमाओं को लाँघकर शाश्वत मानवीय मूल्यों के साथ जुडने पर वे भी गरिमा के उत्तुंग श्रृंगों को छूती है ।

---

1. भीष्म साहनी - भाषा पोषिणी - अप्रैल-मई - 1992 - पृ: 78.

5

प्रतिबद्धता को स्थापित करने वाले तत्व

प्रतिबद्धता को स्थापित करने वाले तत्वों का विवेचन करते समय कई पार्श्वभूमियों से गुजरना पडता है । सबसे पहले यह निश्चित करना पडता है कि लेखन में प्रतिबिंबित किस प्रकार की प्रतिबद्धता को हम मान्यता दें । दूसरे शब्दों में आलोचक को यह निश्चित करना पडता है कि रचना का मूल्यांकन स्वानुभूतियों के धरातल पर या वाद विशेष के धरातल पर या मानवीयता के धरातल पर करना है । क्योंकि आज के लेखन में इन तीनों प्रकार की प्रतिबद्धता प्रकट होने लगी है औ हर लेखक अपनी-अपनी प्रतिबद्धता को समर्थित करने के प्रयास में लगा हुआ है । अधिकतर आलोचक आत्म-केन्द्रित अनुभूतियों पर आधारित समाज निरपेक्ष प्रसंगों से युक्त वैचारिक और अनुभूति स्तर के चित्रण को प्रतिबद्ध लेखन के बाहर मानना उचित समझते है क्योंकि ऐसी रचनाओं में अधिकतः मानसिक विकृतियाँ या कल्पित परिस्थितियाँ ही उभर आती हैं । कलावादी दृष्टि को सामने रखकर इसे प्रयोगों के अंदर मानना ही अधिक समोचीन है । इन रचनाओं को अप्रतिबद्ध लेखन इसलिए नहीं कहा जा सकता कि यहाँ लेखक अपनी आस्था एवं आविष्करण को स्वतंत्रता के प्रति जागरूकता दिखाता हुआ प्रतिबद्ध हो जाता है । समाज के बहु-संख्यक लोगों से इसका संबंध न होने के कारण व्यापक दृष्टि के आधार पर इसको नकारा जा सकता है ।

वाद विशेष के प्रति आग्रह और उसी के आधार पर लेखन करने की प्रवृत्ति वैसे मार्क्सवादी दृष्टिकोण के समर्थन के साथ शुरू होती है । इसलिए कुछ लोग प्रतिबद्धता को मार्क्सवादी चिंतन की ही उपज मानते हैं । " साहित्य में प्रतिबद्धता का तत्व वामपंथी-बोध की ही उपज माना जाता है"।[1] दलित, पीडित, शोषित वर्ग की मुक्ति के संघर्ष को स्वर प्रदान कर मानवहित की रक्षा करना और पूँजिपतियों से उनको स्वतंत्र करना इस तरह के लेखन के प्राथमिक चरण का लक्ष्य मान लिया गया है । उसी तरह पूँजीवादी संस्कारों की रक्षा करने के उद्देश्य से या

---

1. धनंजय वर्मा - आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय - पृ:133.

अस्तित्ववादी विचारधारा को प्रश्रय देने के उद्देश्य से लिखी जाने वाली रचनाएँ भी प्रतिबद्ध लेखन की इस कोटि में स्थान प्राप्त करती हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार के लेखन में लेखक की दृष्टि एकांगी हो जाती है और लक्ष्य-बोध से परिप्रेरित होकर कहीं न कहीं अमानवीय दृष्टिकोण का समर्थन करने को बाध्य बन जाती है। इस तरह इस कोटि को प्रतिबद्धता स्वतंत्रता का आकलन करती हुई लेखक की चेतना को बोझिल कर देती है। परिणाम यह होता है कि विशिष्ट प्रतिबद्धता के पक्ष में और विपक्ष में लोगों की प्रतिक्रियाएं जन्म लेंगी जिसका नतीजा विवादों को उत्पन्न करना मात्र है।

परंतु विवादों से मुक्त होकर मानवीय स्थितियों को सूक्ष्म अवलोकन का विषय बनाकर अनुभूतियों का आविष्कार करते समय अपनी तटस्थता, तार्किकता और वैयक्तिक प्रतिष्ठा के आधार पर लेखक हर स्तर के पाठक को अभिभूत कर सकता है, शाश्वत मानवीय संकल्पनाओं को रूप प्रदान कर सकता है। मानवीय स्तर को छूने वाली रचनाएँ अतः विवादों के परे होती हैं, वादों से, आत्म-पीडन से एवं कुंठाओं से परे होती हैं।

लेखन की प्रतिबद्धता को स्थापित करने वाले तत्वों में लेखक के व्यक्तित्व को विकसित करने वाली परिस्थितियाँ महत्वपूर्ण योगदान लेती हैं। लेखक को वैयक्तिक परिस्थितियाँ उसको कुंठाग्रस्त बनाने में, वाद-विवाद के प्रति आकर्षण दिखाने में या उन्मुक्त भावना का वरण करने में सहायक सिद्ध होती हैं। साथ ही साथ सामाजिक संदर्भ भी उसके लेखन की प्रतिबद्धता को स्थापित करने में सहायक बनता है। "प्रतिबद्धता का संबंध एक लेखक के लिए उसकी उस सामाजिक चेतना से है, जो भाषा में अभिव्यक्त होती है"।[1] शोषण-ग्रस्त समाज में जीने वाला लेखक शोषण के विरुद्ध स्वर उठाने में प्रगतिवादी दृष्टि को अपनाता है। यह

---

1. प्रभात त्रिपाठी - प्रतिबद्धता और मुक्तिबोध का काव्य - पृः 20.

स्वाभाविक भी है । लेकिन शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाने के लिए विश्व मानवता के पक्ष को वह उठाना चाहता है तो उसकी रचना प्रगतिवादी न बनकर मानवतावादी ही बन जाती है । इसका यह अर्थ होता है कि लेखन की शक्ति उन तत्वों पर आधारित होकर विकसित होती है जो लेखक को अंदर से एवं बाहर से प्रभावित करती है । आन्तरिक संघर्ष एवं दर्शन की विशिष्टता उसको रुग्ण मानस भी बना सकती है और स्वतंत्र व्यक्ति भी । समाज की प्रतिक्रियाएं, मर्यादाएँ और राजनैतिक दबाव भी रचना के चयन में विशिष्टता ला सकते है और यही विशिष्टता कई स्तरों में आयामित होकर प्रतिबद्धता के उचित स्तरों में प्रकट होती है ।

प्रतिबद्ध लेखन की सीमाएँ

लेखन कीसीमा-रेखाओं को सुनिश्चित करना आलोचना के क्षेत्र के बाहर की बात है क्योंकि लेखन की सीमाबद्धता एवं विषय व्यापार की विशिष्टता पर अंतिम निर्णय लेने का अधिकार लेखक का होता है । इसका अर्थ यह नहीं है कि लेखन की कोई सीमाबद्धता नहीं है । मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि विषय उसकी सांदर्भिकता, परिवेश और संप्रेषण की सूक्ष्मता आदि कुछ ऐसे तत्व हैं जो पाठक की संवेदना से जुडकर लेखन की रूप-रेखा एवं सीमा रेखा को निश्चित करते है । इस कारण विषय, आविष्करण, परिप्रेक्ष्य, क्षेत्र, अनुवाचक की मनःस्थिति और संप्रेषण की सफलता आदि कुछ ऐसे तत्व हैं जिनके आधार पर लेखन की सीमा-रेखाएं तात्कालिक रूप में तय की जा सकती हैं । दूसरे शब्दों में कथ्यात्मकता, शिल्प-चयन और संवेदना का संप्रेषण ये तीनों लेखकीय अवधारणा को सुनिश्चित करने वाले मुख्य तत्व हैं । "प्रतिबद्धता का संबंध मौलिक एवं प्रामाणिक अनुभूति, कर्मनिष्ठा, व्यक्तिगत आस्था और कलात्मक प्रेरणा से है ।"[1]

---

1. देवेन्द्र इस्सर - साहित्य और आधुनिक युगबोध - पृ: 135.

अवधारणा में प्रतिबद्धता के कई पक्ष उभर आते हैं । "स्व" के प्रति उन्मुख लेखक कथ्यात्मकता एवं शैल्पिक विन्यास को अपनी स्वकीय अवधारणाओं के अनुसार स्थापित करता है । अपने प्रति या अपने विचारों के प्रति या अपने भोगे हुए यथार्थ के प्रति दायित्व दिखाने वाला लेखक अवधारणा की सीमा-रेखाओं को पार कर प्रयोगात्मक औन्नत्य की खोज में, कलात्मकता की तलाश में निकल पडता है । यह संबद्धता उसकी अपनी मात्र है । इस कारण स्वकीय संकल्पनाओं का मात्र प्रतिपादन जिस लेखन में होता है वह लेखन सीमित प्रतिक्रिया की ही अपेक्षा करता है । और इस कारण जन साधारण की प्रतिबद्धता का अंश नहीं बनता । वस्तुतः आलोचक इस कोटि के लेखन को प्रतिबद्ध लेखन के व्यापक अर्थ-सीमा के बाहर बाँध लेते हैं और एक प्रकार से प्रतिबद्ध लेखन के बाहर ही मानते हैं ।

दूसरी प्रकार की प्रतिबद्धता वहाँ प्रकट होती है जहाँ लेखक अपनी बात न कहकर दूसरों की बात किसी सिद्धांत विशेष की आड़ में खडे होकर कहने की कोशिश करते है । सुनिश्चित विचारों से प्रभावित होकर राजनीतिक या सामाजिक परिवर्तन के माध्यम से समाज के दलित वर्गों की रिहाई की माँग करने वाला लेखक उस विशिष्ट वाद के प्रति संबद्ध हो जाता है और इस कारण उसकी प्रतिबद्धता समाज के वर्ग-विशेष की हो जाती है । उदाहरण के रूप में मार्क्सवादी विचारधाराओं को प्रश्रय देने वाला लेखक प्रगतिवादी विचारों को प्रस्तुत कर परिवर्तन की कामना करते हैं और अपने व्यक्तित्व एवं दृष्टि को संपूर्णतया मार्क्सवाद में लिप्त कर देता है ।

इस प्रकार का लेखन प्रतिबद्ध लेखन अवश्य है परंतु उसकी सीमाएं मार्क्सवाद या वर्ग संघर्ष की सीमाबद्धता से ही जुडती है । परिणामस्वरूप मार्क्सवादी प्रतिबद्ध लेखन का आस्वादन प्रगतिवादी विचारधारा से जुडने वाला व्यक्ति ही कर सकता है । इसलिए वह भी आंशिक, पार्श्विक या अपूर्ण प्रतिबद्धता का ही प्रमाण प्रस्तुत करता है । विश्लेषण से व्यक्त होने लगता है कि सिद्धांत विशेष, आदर्श विशेष या वाद विशेष से अपने को पूर्णतः जोडना यद्यपि आधुनिक अर्थ में प्रतिबद्धता है परंतु

असली अर्थ में सीमाबद्धता का ही द्योतक है । इस लेखन की स्वीकार्यता वहीं समाप्त होती है जहाँ वाद विशेष का आधार किसी न किसी कारण डवाडोल होने लगता है । अतः इस प्रकार का प्रतिबद्ध लेखन कभी-कभी उधार ली गई राजनीति या सिद्धांत विशेष की बैसाखियों पर ही खडा हो सकता है ।

परंतु मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के प्रति संबद्धता दिखाने वाला लेखन कालजयी हो जाता है क्योंकि उसमें अभिव्यक्त विचार, अनुभूतियाँ, स्थितियाँ, परिवेश और संघर्ष कथानुगत होते हुए भी सॉगत्य को बनाये रखता है और मानव की मूलभूत चेतना के अनुरूप प्रमाणित होता है । भाषा, क्षेत्र, संस्कृति, धर्म एवं परंपरा के साथ थोडा बहुत अंतर के प्रकट होने पर भी मानवीय संवेदनाओं के मूलभूत तत्व एक जैसे ही रहते है । संकल्पनाओं की मानवीय स्तर पर परीक्षा, प्रेम, संघर्ष आदि के स्तर पर किए जाने वाले निर्णय जातीय, वंशीय एवं क्षेत्रीय सीमाओं को तोडकर मानवीय चेतना के अखण्डनीय स्वरूप को पकडने में सार्थक होते हैं । और इस कारण इस तरह का प्रतिबद्धात्मक लेखन सारी मानवता की संपत्ति बन जाता है । सही मायनों में मानवीय संस्कृति के प्रति और उसके अस्तित्व के प्रति दिखायी जाने वाली यह प्रतिबद्धात्मक साधना ही साहित्य को अमर, अमिट एवं सबके लिए आस्वादन के योग्य बना देती है ।

उपर्युक्त तत्व को आधार बनाकर की जाने वाली परीक्षा के निर्णय पर ही श्रेष्ठ रचनाओं की प्रतिबद्धात्मकता आँकी जा सकती है । स्वकीय अनुभूतियों के प्रति या वाद विशेष के समर्थन के प्रति अग्रसर होने वाले लेखक को भी कहीं न कहीं ऐसी ज्वलंत स्थितियों का दर्शन होता है जहाँ सारी संवेदनाएँ मानवीय स्तर पर उभर कर पल दो पल के लिए सृष्टि की विडंबनात्मक स्थितियों का बोध कराने में सफल रहती हैं । ऐसी आंशिक प्रतिबद्धता लेखन के खण्ड बनकर उक्त दोनों प्रकार की रचनाओं में प्रकट होते हैं और उनकी मानवीयता को प्रश्रय देने वाले तत्व के रूप में अनुवाचक को प्रभावित करती रहती है ।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि मानवता के प्रति प्रतिबद्ध रचनाएं आत्म-निष्ठ एवं वाद-निष्ठ प्रतिबद्धताओं के समर्थकों को भी प्रभावित करने में सक्षम निकलती हैं। जबकि आत्म-निष्ठ एवं वाद-निष्ठ रचनाएं अमुक व्यक्ति या वर्ग के लोगों के लिए ही आस्वादन-योग्य बनती हैं। विश्व-भर के आस्वादकों को प्रभावित करने में वे असफल रह जाती हैं। "पर तालस्ताय उन मानवतावादी लेखकों में है जिन्हें सोवियत संघ के साथ विश्व-स्तर पर स्वीकृति मिली। यहाँ दलीय प्रतिबद्धता कई स्तरों पर टूटती है। दल का सदस्य न होकर भी महान रचना संभव है, बशर्ते वह विराट को संवेदन के स्तर पर संबोधित करें और कला का भी धरातल स्पर्श करें। दल को भी ऐसी विराट प्रतिभाओं को स्वीकारने के लिए बाध्य होना पडता है।"[1]

सामाजिक प्रतिबद्धता - एक विश्लेषण

आधुनिक युग में सामाजिक प्रतिबद्धता की प्रतिष्ठा लेखन में सबसे महत्वपूर्ण माने जाने लगी है। जबसे प्रगतिशील विचारों का साहित्य में प्रणयन होने लगा था तबसे सामाजिक यथार्थवाद को प्रतिस्थापित करने वाले लेखकों की दृष्टि कोरी कलावादिता से भिन्न साहित्य के प्रयोजनमूलक पक्ष पर ही केन्द्रित रही है। समाज के शोषित एवं पीडित जन-समुदाय के उत्थान के लिए साहित्य को एक साधन के रूप में प्रयुक्त करने का दृष्टिकोण मार्क्सवादी विचारधारा का ही परिणाम है। समाज के बिगडे हुए पक्षों को लेखक के प्रभाव के माध्यम से ठीक करते हुए जन-मानस में साहित्य के प्रयोजनमूलक पक्ष को उजागर करना इस तरह के प्रतिबद्धात्मक लेखन का लक्षण रहा है। इस कारण सामाजिक प्रतिबद्धता को लेखन का लक्ष्य बनाने वाले साहित्यकार वाद विशेष के दायरे में प्रतिबद्धता को प्रतिष्ठित करते हैं।

---

1. प्रेमशंकर - दस्तावेज - अंक-40. - पृ:20.

इस तरह के लेखन की यह कमी है कि उसमें लेखकीय दृष्टि एकांगी हो जाती है और वह सिद्धांत विशेष की सीमा के बाहर आने वाले यथार्थ को और मानवीय पक्ष को अनदेखा कर देती है । परिणामतः जीवन का सम्यक, स्वतंत्र एवं सर्वांगीण अवबोध सामाजिक प्रतिबद्धता के दायरे से मुक्त हो जाता है । दूसरे शब्दों में सामाजिक प्रतिबद्धता के पूर्वाग्रहपूर्ण लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से लेखक अपने व्यक्तित्व के यथार्थ को खण्डित करता है । कलावादिता से बचने के लिए जिस प्रयोजनमूलक दृष्टि को सामाजिक प्रतिबद्धता की आड़ में लेखक स्वीकारता है, वह कभी-कभी इतनी अधिक गिर जाती है कि उस तरह का साहित्य "प्रोपगान्डा" मात्र बनकर रह जाता है । इस प्रकार के साहित्य में सामाजिक प्रतिबद्धता वाद विशेष की सीमा से घिर कर सीमित और एकपक्षीय बन जाती है ।

सामाजिक प्रतिबद्धता को मानवीय दृष्टि से भी उभारा जा सकता है । वादों से मुक्त और वैयक्तिक मानसिक विकृतियों से स्वतंत्र लेखन में मानवीय संवेदना के स्तरों को छूने की विशिष्ट-शक्ति होती है । इस विशिष्टता के आधार पर उसमें प्रतिष्ठित प्रतिबद्धता "सामाजिक" न होकर "मानवीय" हो जाती है । मानवीयता के प्रति दिखाई जाने वाले इस दायित्व को मानवीय प्रतिबद्धता कहना अनुचित नहीं है । वस्तुतः यह मानवीय प्रतिबद्धता ही सामाजिक प्रतिबद्धता के क्षेत्र को अधिक उदात्त एवं उदार बनाती है । प्रेमचंद और गोर्की की रचनाओं का विश्लेषण करते समय यह स्पष्ट होने लगता है कि उनकी रचनाएँ सामाजिक प्रतिबद्धता को प्रतिष्ठित करते हुए भी मानवीय प्रतिबद्धता की ओर ही उन्मुख होती हैं । "वस्तुतः प्रेमचंद पर यदि प्रतिबद्धता का आरोपण किया जाए तो वह केवल इसी अर्थ में सार्थक हो सकता है कि वे सर्वप्रथम राष्ट्र के प्रति और तदुपरान्त मानवता के प्रति प्रतिबद्ध थे । इसके अतिरिक्त किसी विशिष्ट वर्गगत विचारधारा के प्रति वे कभी प्रतिबद्ध नहीं रहे ।"[1] उन रचनाओं में प्रतिबिंबित "सामाजिकता" परिप्रेक्ष्य जनित और काल एवं वर्ग के आधार पर स्थापित होने वाली है । इस कारण परिवेश समाज की विशिष्टता को प्रतिपादित तो करता है परंतु उसकी प्रतिबद्धता केवल परिवेश मात्र से न जुडकर जीवन की अन्तर्धारा से जुडती है । और यह अन्तर्धारा युगयुगान्त तक प्रत्यक्ष होती दिखाई पडती है ।

---

1. डॉ. जयभगवान गोयल - साहित्य चिंतन - पृः 184.

एक दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो वाद विशेष की सामाजिक प्रतिबद्धता के लेखन से समाज सुधार की कल्पना की जा सकती है । लोगों की मनोवृत्ति को एक निश्चित दिशा प्रदान करने में इस तरह का लेखन सहायक सिद्ध होता है । रूसी क्रांति के बाद वहाँ की सारी रचनाएं सर्वहारा वर्ग की विजय की कामना करती हुई आयामित हुई थीं । एक ऐसे समाज की परिकल्पना जहाँ सभी लोग समान अवसरों की प्रतीक्षा करते हुए अपनी नीति का निर्धारण करने में सफल निकलें, यह उसका लक्ष्य था । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस तरह के लेखन का सम्यक असर पाठकों पर पडता है और जाने अनजाने में उनके विचार भी इनसे प्रभावित होने लगते हैं । लक्ष्यबोध की ओर उन्मुख होने के लिए इस प्रकार का प्रतिबद्धात्मक लेखन बहुत सहायक सिद्ध होता है ।

परंतु आज सत्य यह सिद्ध करता है कि रूस में जन्म लेने वाली प्रतिबद्धात्मक लेखन से बाहरी स्तर पर सुधार की संभावनाएं उजागर भले ही होती हों, परंतु आन्तरिक स्तर पर यह प्रतिबद्धात्मक लेखन परिवर्तन को नहीं ला सकता क्योंकि परिवर्तन का ढाँचा आर्थिक तत्वों पर खडा होता है । इसलिए सामाजिक प्रतिबद्धता के आधार पर समाज के आर्थिक ढाँचे को बदलने की संकल्पना और साम्यवादी समाज की स्थापना का स्वप्न भी भ्रामक है । सामाजिक प्रतिबद्धता के यह पक्ष आधुनिक संदर्भों में बहुत अधिक विचारणीय हैं ।

युगचेतना और प्रतिबद्धात्मक लेखन

सर्जनात्मक चेतना के कई आयाम होते है, जिनमें व्यक्ति, परिवेश, युगबोध एवं दृष्टि अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं । युगबोध की सीमा-रेखाओं से आयामित होता हुआ लेखन नई-भावभूमियों को स्पर्श करने लगता है । इस कारण स्वकीय अनुभूतियाँ भी युगचेतना के सर्जनात्मक बोध से अछूती नहीं रह सकतीं । दूसरे

शब्दों में प्रतिबद्धात्मक लेखन किसी भी स्तर का क्यों न हो, युगबोध से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता । अपने प्रति उन्मुख होकर आत्म-प्रतिबद्धता के स्तर पर स्थापित होने वाला लेखन वाद विशेष के प्रति प्रतिबद्ध लेखन नहीं है और मानवीयता के क्षितिजों को छूने वाला लेखन इसी युगबोध से प्रभावित होता रहता है ।

जहाँ तक आत्म-प्रतिबद्धात्मक लेखन का सवाल है, युग-चेतना उस पर हमेशा अपना गहरा प्रभाव डालती है । परंतु इस प्रभाव को स्वीकारने के लिए लेखक के पास कई स्तर होते हैं । एक ओर सकारात्मक दृष्टि को अपनाते हुए लेखक उस युग-चेतना के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट कर सकता है तो दूसरी ओर नकारात्मक दृष्टि को प्रश्रय देता हुआ युगबोध को नकार भी सकता है । कभी-कभी इन सकारात्मक - नकारात्मक प्रतिबद्धताओं के परे अपनी आन्तरिक प्रतिक्रिया के व्यक्त करने का प्रयास वह करता रहता है ।

ऐसी स्थिति में लेखन में कई-कई असंतुलन, रुग्ण-मानसिकता एवं निराशाजनक दृष्टि प्रकट होने लगती है । उदाहरण के रूप में भोगे हुए यथार्थ का अनुसरण करने वाला लेखन पात्र-चयन और परिस्थितियों के निर्माण में समसामयिक युग की मान्यताओं को और सामाजिक संकल्पनाओं को आधार मानकर चलते हुए उनका निराकरण करता है । इस प्रकार के आत्म-प्रतिबद्ध लेखन में परिवेश का समूचा आयाम तत्कालीन युग की एवं उसकी चेतना की सृष्टि के रूप में उभर कर आता है । इस प्रकार आत्म-प्रतिबद्ध लेखन की भूमिका को एवं उसकी पार्श्वभूमि को सजीवता प्रदान करने में उस युग-विशेष की सामाजिक, आर्थिक और नैतिक संकल्पनाएं अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान की जिम्मेदारी निभाती हैं ।

दूसरी बात यह है कि युगबोध से भागने की कोशिश में आत्म-प्रतिबद्धता जिस पलायनवादिता को अपनाती है, उसकी अन्तःसत्ता को पहचानने के लिए युग-चेतना को पहचानना अनिवार्य बन जाता है । इस प्रकार किसी भी अस्तित्ववादी रचना के आधार को समझने के लिए लेखन की पृष्ठभूमि में उभर आने वाला युगबोध अत्यंत सहायक सिद्ध होता है भले ही अस्तित्ववादी विचारधारा

युगबोध का प्रतिनिधित्व नहीं करती, फिर भी उस अस्तित्ववादी चेतना को स्थापित करने में युगबोध ने किस तरह की भूमिका निभाई है, यह विचारणीय बात है । इस तरह काफ्का, कामू और सार्त्र जैसे अस्तित्ववादी लेखकों को लेखन के प्रतिबद्धता समझने के लिए युगचेतना से समन्वित सूक्ष्म अन्तःवृत्तियों पर विचार करना अनिवार्य बन जाता है । परिणामतः आत्म-प्रतिबद्धात्मक लेखन प्रत्यक्ष रूप से या परोक्ष रूप से कहीं न कहीं युग चेतना से जुडता है । चाहे यह संबंध नकारात्मक भी क्यों न हो, फिर भी उन संबंधों की गहराइयों में कहीं न कहीं वह स्पर्श होता है जो आत्म-प्रतिबद्धता को युगबोध से जोडता है ।

वाद विशेष की प्रतिबद्धता को उभारने वाला लेखन युगीन-बोध से पूर्णतया प्रभावित हो, यह जरूरी नहीं है । परंतु सर्जना के पक्षों को आयामित करने के लिए युगीन परिस्थितियाँ एवं युग की चेतना का प्रतिस्फुरण अनिवार्य माना जाता है । उदाहरण के लिए समसामयिक जीवन-बोध से प्रेरणा ग्रहण कर लिखित लेखन के कार्य में रत होने वाला लेखक प्रगतिवादी विचारों की प्रतिबद्धता के कारण हर समस्या का अंत प्रगतिवाद में ढूँढ निकालता है । उसको दृष्टि में आज की सारी समस्याओं का समाधान समाजवाद की स्थापना से हो सकता है । पूर्वाग्रहपूर्ण इस दृष्टि के कारण युग-सत्य को अपने सही मायनों में समझने में वह असमर्थ रहता है । इसकारण युग-चेतना के संयुक्त बोध को आत्मसात करने में और उनके सही-सही समाधान ढूँढ निकालने में इस तरह का लेखन असफल निकलता है । वस्तुतः वाद विशेष से प्रतिबद्ध होकर सर्जनात्मक क्षेत्र में प्रवेश करने वाला लेखक वाद विशेष से जुडकर कभी सामाजिक चेतना से कट भी सकता है । इस स्थिति में उसकी रचनाएँ युग-चेतना की दृष्टि से अप्रासंगिक भी हो सकती हैं । संक्षेप में वाद-विशेष से जुडा हुआ प्रतिबद्धात्मक लेखन युग-चेतना के संयुक्त स्वरूप को समसामयिक स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में स्वीकारने में कहीं कहीं असफल हो जाता है और इस कारण से मूल रूप में अपने सार्वत्य को नष्ट कर बैठता है ।

युग-चेतना को सांक्षीकृत करते हुए वाद-विशेष से हटकर मानवीय संदर्भों से जुडकर प्रतिबद्धता को स्थापित करने वाला लेखन युग-चेतना के प्रति सही न्याय कर सकता है । क्योंकि इस तरह के लेखन में न तो किसी प्रकार का पूर्वाग्रह बना रहता है और न वाद-विशेष के प्रति कट्टर प्रतिबद्धता । बदलते संदर्भों के साथ, युग-चेतना की मान्यताओं के साथ, मानवीय जीवन के परिदृश्यों का नया अर्थ ढूँढना एवं उसकी व्याख्या करते हुए समसामयिक संदर्भों से जोडकर उनको प्रासंगिक बनाना इस प्रकार के लेखन का लक्ष्य होता है । यहाँ मानवीयता के मूलभूत तत्वों का निराकरण नहीं किया जाता । "मैं यह विश्वास करता हूँ कि साहित्यकार का अस्तित्व मानवीय मूल्यों के साथ अटूट रूप से जुडा हुआ है । मानवीयता वास्तव में साहित्यिक उद्यमों की कसौटी है । मानवीयता के प्रति प्रतिबद्ध साहित्यकार हमेशा सामाजिक न्याय एवं सत्य से अवगत होता है । वह सत्यान्वेषक भी होता है ।"[1] अपितु युग चेतना के विशेष संदर्भ में नये भाव-बोध की अर्थवत्ता को समझाकर मानव के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया जाता है । इसकारण युग-चेतना के प्रति दायित्व निभाने वाला श्रेष्ठ लेखन इन्हीं मानवीय संदर्भों का परिणाम है । कालानुबद्ध होने पर भी वह कालजयी है । क्योंकि इसमें मानवीय आचार-विचार, आचरण, विश्वास एवं जीवन-मूल्यों की प्रतिस्थापना के प्रति दायित्वपूर्ण एवं सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया जाता है ।

निष्कर्ष

समाज में हितकारी परिवर्तन लाने के संदर्भ में साहित्यकार के योगदान को हम भूल नहीं सकते । "साहित्य और साहित्यकार को सामाजिक परिवर्तन के लिए जाने-अनजाने प्रतिबद्ध मानना ही श्रेयस्कर है ।"[2] प्रतिबद्धात्मक

---

1. भीष्म साहनी - भाषा पोषिणी - अप्रैल - मई - पृः 78.
2. पीतांबर सरोदे - आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में राजनैतिक और आर्थिक चेतना - पृः 21.

लेखन के वैयक्तिक, सामाजिक एवं मानवीय पक्षों पर विचार करने से यह स्पष्ट होने लगता है कि प्रतिबद्धता एक ऐसा सूक्ष्म तत्व है जो लेखन की सत्ता को नई जीवंतता प्रदान कर सकता है। लेखकीय प्रतिबद्धता की दृष्टि के अनुसार सर्जनात्मक सीमाएँ बदल सकती हैं और उसमें निहित संदेश भी बदल सकता है । सर्जना की मूलभूत प्रेरणा को बनाये रखने में और रचना को महान भूमिका अदा करने के लिए समर्थ बनाने में प्रतिबद्धता की दृष्टि श्रेष्ठतम दायित्व अदा कर सकती है । प्रत्येक रचना की प्रतिबद्धता को आँकने के लिए वाद-विशेष की दृष्टि या वैयक्तिक इच्छानिच्छा की दृष्टि अपनी सफल न हो सकती जितनी मानवीय दृष्टि सफल होती है । इन्हीं कारणों से रचना की सार्थकता मानव के प्रति दिखाई गई पूर्वाग्रह-रहित स्वतंत्र दृष्टि पर आधारित होनी चाहिए ।

दूसरा अध्याय

प्रेमचन्द के उपन्यासों में युग - चेतना

प्रेमचन्द का युग

यह एक सर्वमान्य सत्य है कि साहित्यकार अपनी युगीन परिस्थितियों से प्रेरित एवं प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता । अतः किसी भी युग के साहित्य का सम्यक अध्ययन उस युग की परिस्थितियों के आधार पर ही किया जा सकता है जिसमें साहित्यकार अपना जीवन बिता रहा था । युग-चेतना हमेशा युग-बोध से स्थापित होती है और इस युग-बोध को स्थापित करने में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिवेश का गहरा योगदान होता है । जिस विशिष्ट सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक परिवेश में कलाकार की भव्य-चेतना का विकास होता है, उससे वह हमेशा प्रभावित रहेगा । कलाकार सर्वप्रथम अपने युग की उपज है, उसकी घटनाओं और दुर्घटनाओं का प्रत्यक्ष द्रष्टा अथवा उनमें सक्रिय भाग लेने वाला होता है । अतः यदि कोई साहित्यकार अपनी रचना में युगीन परिस्थितियों से बचने का प्रयत्न करे तो भी उसकी रचना में उस युग की विशिष्ट परिस्थितियों की झलक अवश्य आ जायेगी इसका अर्थ यह है कि युग-बोध जाने-अनजाने में सशक्त रचना में स्वयमेव प्रकट होता है और उसके स्पष्ट प्रभाव से कोई भी सफल रचनाकार अपने को मुक्त नहीं कर सकता । इन्हीं कारणों से रचना को सामाजिकता को और प्रतिबद्धता को समझने के लिए युगीन परिस्थितियों का और उसको स्थापित करने वाली चेतना का अध्ययन अनिवार्य है । प्रेमचंदजी की रचनाओं के संबंध में भी यह कहा जा सकता है कि युग-बोध को अपनाने में वे किसी के पीछे नहीं है । उनकी रचनाएँ तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक राजनीतिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का सच्चा प्रतिबिंब प्रस्तुत करतीं है । उस युग-बोध और युग-चेतना को भली-भाँति समझने के लिए इन्हीं तत्वों का विश्लेषण करना अवश्यंभावी है ।

सामाजिक स्थिति

प्रेमचंदजी का आविर्भाव जिस युग में हुआ था, उस समय समाज अत्यंत विशृंखलित अवस्था में था । सामंती जकडबंदी और जमींदारी - साहुकारी व्यवस्था से पिसते हुए भारतीय समाज मुक्ति के लिए तडप रहा था । दो शताब्दियों की राजनीतिक दासता से उत्पन्न मानसिक जडता का परिणाम यह हुआ कि भारतवासी विभिन्न सामाजिक कुरीतियों से ग्रस्त होकर अपना लक्ष्य एवं मार्ग खो बैठे ।

भारतीय सामाजिक जीवन के विविध आयामों पर विचार करते समय यह विदित होने लगता है कि आज भी हमारे जीवन के मूल में वही मान्यताएँ प्रवाहमान हैं जो सौकडों वर्षों से हमारी संस्कृति को पल्लवित करती रही हैं । अतः सामाजिक जीवन के विविध पक्षों को समझे बिना यहाँ के जीवन के सही स्पंदनों को आँका नहीं जा सकता । युगों से आनेवाली मान्यताएं और सांस्कृतिक अन्तर्धाराएं यहाँ के जीवन में हमेशा नई स्फूर्ति और नया उन्मेष भरती आयी है ।

युगों से भारत एक कृषि-प्रधान देश रहा है और यहाँ की 80 प्रतिशत जनता किसान ही है । प्रेमचंद युग में भारत का आर्थिक ढाँचा अधिकतर धरती की उपज पर आधारित होता था और यह उपज प्राकृतिक वरदानों से सिंचित होती रहती थी । बाढ़ अतिवर्षा और अतिताप जैसी प्राकृतिक विपत्तियाँ आ पडने पर गरीब किसानों के पास हाहाकार के सिवा कुछ नहीं बच जाता था । कभी-कभी भारतीय गाँव समृद्धि से अपने अंचल को भर लेते थे तो दूसरी ओर प्राकृतिक विपताओं से त्रस्त भी होते थे । इन्हीं परिस्थितियों में जीवन बिताने वाले गरीब किसानों पर जमींदारों के निर्मम शोषण का हाथ अचानक ही आ धमकता था और उन्हें अक्सर जमींदारों का गुलाम मात्र रह जाना पडता था । इस प्रकार युगों से शोषित, पीडित एवं प्रताडित भारतीय किसान दम-तोड कर मेहनत करने पर भी पेट-भर की रोटी से वंछित रहा । अंग्रेज़ों के आगमन के पहले भारतीय किसान राजाओं और जमींदारों से शोषित थे तो अंग्रेज़ों के आगमन के बाद उन्हें उनकी भी दासता स्वीकारनी पडी ।

अंग्रेज़ी शासन में भारतीय गाँव वह नरक था जहाँ शिक्षाहीन, पीडित प्रताडित किसान रूपी जानवर अन्धविश्वासों, रूढियों और धार्मिक शोषणों के बीच नियतिवाद को लेकर जीने को विवश किया गया था । पूर्व-जन्म के पापों को धो डालने एवं मुक्ति की साँस के लिए तडपने वाला भारतीय किसान सामन्तवादी सभ्यता का सबसे काला प्रतीक था । इस प्रकार प्रेमचंद युगीन किसान अमानवीय कारनामों के काले थपेडों से कलुषित हो गया था और अपने अधिकारों प्रति अनभिज्ञ भी ।

समाज में बाल-विवाह, अनमेल विवाह बहु-विवाह, पर्दा, दहेज, सती, विधवा आदि से जुडी समस्याएँ अत्यंत भयानक रूप धारण किए हुए थे । ऊपर विवेचित समस्याएँ प्रमुख रूप से युगों से तिरस्कृत, अभिशाप्त एवं चारों तरफ से उपेक्षित भारतीय नारी पर ही केन्द्रित थीं । नारी विषयक इन सभी समस्याओं के मूल में आर्थिक विपन्नता ही काम कर रही थी । भारतीय समाज की नारी अपने अधिकारों के प्रति अनभिज्ञ थी और अपने आपको शोषण के दुष्चक्र से बचाने में असमर्थ भी । आर्थिक पराधीनता के कारण सामाजिक शोषण एवं कुरीतियों के विरुद्ध आवाज़ बुलंद करने का साहस भी उन्हें नहीं था ।

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप समाज में विशेषकर शहरों में दो नये वर्ग उभरे-पूँजिपति एवं श्रमिक । परंपरागत खेती अलाभकर हो जाने से एवं जमींदारों के निष्ठुर हाथों से बचने की लालसा से भारतीय किसान गाँव छोडकर शहर जा रहे थे और वहाँ कारखाने में पूँजिपतियों के अधीन मज़दूर बन जाते थे । सरकार की विकल शासन-नीति के कारण वहाँ भी मज़दूर बना किसान का निर्मम शोषण हो रहा था । कभी भी उन्हें अपनी पसीने की कीमत प्राप्त नहीं होती थी । पूँजीपतियों के इस निर्मम शोषण से मज़दूरों की मुक्ति का कोई भी उपाय तत्कालीन समाज में नहीं था । औद्योगीकरण के विकास के लिए अंग्रेजों को भी यह अनिवार्य था कि भारत में सस्ती मज़दूरी मिलती रहे । अपनी जीवन-दशा में सुधार लाने के लिए मज़दूर वर्ग अक्सर समाजवादी एवं साम्यवादी विचारधाराओं से प्रभावित होकर आन्दोलन चलाता था तो भी उनकी मुक्ति एक सुनहरा स्वप्न बनकर रह जाती थी ।

अंग्रेज़ सरकार की शोषण-नीति की छत्रछाया में समाज के शोषक वर्ग जैसे जमींदार, साहुकार, महाजन और पूँजिपति आदि हैं, वे सब खूब पल रहे थे। अमीर ओर अधिक धनी बनते जा रहे थे और गाँव के किसान अपनी ज़मीन खोकर मज़दूर बनते जा रहे थे।

अमीर और गरीब-इन दो वर्गों के बीच मध्यवर्ग का भी उदय हो रहा था और मध्यवर्गीय परिवारों की स्थिति गरीब परिवारों से बिल्कुल श्रेष्ठ नहीं थी। वे न तो अमीर बन सकते थे और न गरीब भी। झूठी शान के कारण मज़दूर बनना भी उनके लिए असंभव था। सामाजिक अनाचार एवं रूढियों का सबसे बडा शिकार यही वर्ग था। जातिवाद के संकुचित दायरे में सिकुडी पंगु नैतिकता, मृत आध्यात्मिकता एवं अंधविश्वासों की सुदृढ़ जंजीरों में बंधा हुआ यह वर्ग आन्तरिक रूप से टूट रहा था।

इसके अलावा विदेशी सरकार की विकल शासन नीति से भी भारती जनता हताश थी। क्योंकि अंग्रेज सरकार का एकमात्र लक्ष्य दानवी शोषण द्वारा अपनी आर्थिक समृद्धि को बढाना मात्र रह गया था। और गरीब भारतीय जनता की आशाओं एवं अभिलाषाओं को साकार बनाने के लिए कोई कदम नहीं उठाया गया था। इनके लिए भारत एक बाजार मात्र रह गया था जहाँ से बहुमूल्यवान वस्तुएँ अपने देश ले जाकर वहाँ के कारखाने में तैयार करके यहाँ बेची जा सकती थीं।

शिक्षित भारतीयों की चाटुकारितावृत्ति भी विदेशी सरकार के दानवी शोषण को यहाँ बनाये रखने में सहायक सिद्ध हुई थी। और नौकरशाही की भीषणता भी अपने विकराल रूप दिखा रही थी जिससे भी भारतीय समाज बुरी तरह से पीडित था। जनता में शिक्षा का अभाव था और यह भी विदेशी लुटेरे राक्षसों को यहाँ बने रहने में सहायक था। इसप्रकार समाज को शोषित करने वाले आततायियों से समाज त्रस्त और पीडित होता ही जा रहा था।

आर्थिक स्थिति के अध्ययन के बिना किसी भी समाज का अध्ययन अधूरा रहता है क्योंकि प्रत्येक समाज का अस्तित्व उसकी आर्थिक स्थिति पर ही निर्भर रहता है । दो शताब्दियों के अंग्रेजी शासन काल के इतिहास की परीक्षा करते समय हृदय-विदारक पीडा का अनुभव करने वाली जनता का स्वरूप ही हमारे सामने उभर आता है । अंग्रेज़ों ने अपने साम्राज्यवादी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत के परंपरागत सभी उद्योगों को विशेषकर कपडा उद्योग, ग्रामीण उद्योग एवं कला-कौशल को सदा के लिए पंगु बना दिया था । उन लोगों का उद्देश्य भारत को एक कृषि-प्रधान देश बनाकर रखना था, ताकि यहाँ के कच्चे माल एवं सस्ती जन-शक्ति का उपयोग वे अपने देश की समृद्धि के लिए काम में ला सकें । इसका यह नतीजा हुआ था कि भारत के कलाकार एवं कारीगर अपनी रोजगारी खो बैठे और पेट-भर रोटी के लिए मज़दूरी करने को विवश हो गये थे । अंग्रेज़ी शासन की नीति प्रमुख रूप से भारत को गुलाम बनाये रखने वाली थी । इसलिए उद्योगों और छोटे-मोटे धंधों को किसी प्रकार की सहायता उनसे प्राप्त नहीं हुई थी । अंग्रेज़ी शासन ने भारत को लूट कर ही अपने देश को कृषि-प्रधान देश से व्यावसायिक देश बना दिया था और भारत को अपनी व्यावसायिक वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए एक बाजार मात्र बना दिया था ।

भारत में एक ओर परंपरागत उद्योगों का सर्वनाश हो रहा था तो दूसरी ओर अंग्रेज सरकार अपनी सर्च की पूर्ति के लिए दिन-प्रतिदिन करों की वृद्धि कर रही थी । अंग्रेजों की इस दोहरी शोषण नीति का सर्वाधिक शिकार गरीब भारतीय किसान रहे । ऋण के बोझ से परेशान किसानों के हाथों से भूमि छीन ली गयी और जमींदारी सभ्यता रूढ़ मूल होती गयी । नवीन ढंग की जमींदारी व्यवस्था के कारण भारतीय किसान अब किरायेदार मज़दूर मात्र रह गया था । खेती के स्वामी किसान मज़दूर बनते जा रहे थे और अपनी रोटी के लिए शहर को शरण लेने लगे थे ।

किसान एक ओर जमींदारों के अत्याचारों से पीडित था तो दूसरी ओर महाजनों और पुलिस अधिकारियों के शोषण का शिकार बनता जा रहा था । 1905 के और 1930 की विश्वव्यापी आर्थिक मंदी का भी सबसे गहरा दुष्प्रभाव भारतीय किसानों पर ही पडा था ।

अंग्रेज़ों के आर्थिक विकास का अगला चरण औद्योगीकरण से शुरू होता है । औद्योगीकरण का परिणाम यह हुआ कि भारत में अनेक कारखाने खोले गये । भारत की सस्ती मज़दूरी एवं कच्चे माल भी औद्योगीकरण के विकास में अंग्रेज़ों को सहायक सिद्ध हुए । औद्योगीकरण की अधिकता से समाज में दो नए वर्ग भी पनपे - पूँजीपति वर्ग एवं मज़दूर वर्ग ।

पूँजीवादी शोषण-नीति का सबसे बडा शिकार था मज़दूर बना किसान वर्ग । अपनी दिन - प्रतिदिन बिगडती हीन दशा को सुधारने के लिए वे हडतालें करते थे । परंतु उन्हें कभी भी अपनी पसीने की कीमत नहीं मिलती थी । साम्यवादी आन्दोलन तक चलता था, पर पूँजिपतियों के निष्ठुर शोषण से मज़दूर वर्ग कभी मुक्त नहीं हो पाता था ।

समाज में मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति भी हीन से हीनतर बनती जा रही थी । वैचारिक क्षेत्र में उच्च वर्ग से समानता रखने वाला यह वर्ग उनके समान जीवन यापन करने की लालसा रखता था, पर व्यावहारिक तौर पर असफल रहने पर वह इससे विभिन्न मानसिक ग्रंथियों का शिकार भी बनता जा रहा था ।

आर्थिक दृष्टि से प्रेमचंद युग भारत में सामंतवाद के पूँजीवाद में परिणत होने का युग था । प्रेमचंदजी की सभी रचनाओं में समाज में घटित होने वाले आर्थिक वैषम्य की स्पष्ट झलक दृष्टव्य है । "प्रेमचंद के उपन्यासों में सभी प्रकार के सिद्धांत, सभी प्रकार के वर्ग एवं सामाजिक दल है, लेकिन इन सबों के पीछे आर्थिक समस्याओं का गहरा गुप्त प्रवाह है ।"[1]

---

1. "In Preamchand's novels, there are all kinds of themes, all kinds of classess and social groups, but behind all these are the deep hidden currents of economic problems". Dr. Ram Darsa Misra - Modern Hindi Fiction - p.97.

धार्मिक स्थिति

भारत पौराणिक काल से एक धर्म-प्रधान देश रहा है और भारतीय संस्कृति को स्थापित करने में धर्म का योगदान अद्वितीय रहा है । युगों से भारतीय जन-जीवन का आधार आध्यात्मिकता से अनुप्रेरित रहा है । आध्यात्मिक उन्नति को ध्येय बनाकर मुक्ति के पद की खोज करना भारतीय संस्कृति के सबसे प्रधान लक्ष्य है । इसी कारण से यहाँ की जनता भौतिक उन्नति की उपेक्षा तक करके आध्यात्मिकत की ओर मुडी है । वेद, पुराण एवं अन्य धार्मिक ग्रंथों का इतना प्रभाव औसत जनता पर पडा था कि वे धर्मभीरू एवं आध्यात्मिक मनोवृत्ति वाले बन गये । वास्तव में भौतिक क्षेत्र में हमारे पिछडेप्पन का कारण यही उपेक्षा की भावना रही है ।

परंपरागत रूप से भारत का सामाजिक एवं धार्मिक ढाँचा अन्योन्याश्रित रहा है और सामाजिक प्रथाओं को स्थापित करने में धर्म का योगदान अनिवार्य रहा है । धर्म का स्वरूप सदियों से आनेवाले विश्वासों के घेरे में बन्द होकर क्रमशः बदलता है । धर्म में धीरे-धीरे आध्यात्मिक तत्वों की गहराई का स्थान रूढियों ने ग्रहण किया और विशेषकर गाँवों में धर्म, अन्धविश्वास एवं पाखण्ड मात्र रह गया । उसका केन्द्र भ्रष्टाचार का अड्डा बन गया था जिससे उसका सांस्कृतिक आधार भी नष्ट-भ्रष्ट हो गया ।

प्रेमचंद युग तक आते हो धर्म का वास्तविक स्वरूप तिरोहित हो गया था और धर्म का उद्देश्य बाह्याडंबर एवं अन्धविश्वासों का जागरण कराकर इंसान का अमानवीय शोषण करना मात्र रह गया था । समाज में जाति-पाँत एवं छुआछूत जैसी कुप्रथाएँ धर्म की छाया में ही पल रही थीं । मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, पशु, बलि, भूत-प्रेतादि पर विश्वास, श्राद्ध आदि अंधविश्वास भी धर्म के नाम पर ही चल रहे थे ।

भारत के अशिक्षित गाँववासी धर्म को रीति-रिवाजों तक मात्र सीमित समझने लग गया था । अशिक्षित जनता के मन में वर्णाश्रम धर्म के नियमों ने यह विश्वास डाल दिया था कि निचले धर्म में जन्म लेने का मुख्य कारण पिछले जन्म में किए गए पाप है । इसप्रकार धर्म ने जातिगत भेद-भावों को प्रश्रय दिया जिससे शोषण की सभी नीतियाँ वैध स्थापित होने लगीं ।

साम्प्रदायिकता के जहर ने हिन्दु-मुसलमानों के बीच अलगाव का भाव पैदा किया और अंग्रेज़ों ने इस साम्प्रदायिकता की भावना को तूफान का रूप दे दिया । पण्डा-पुरोहित वर्ग समाज की अशिक्षित जनता का निर्दय शोषण करता रहा । इसका ज्वलंत प्रतीक था धर्म-भीरु भारतीय किसान, जिसे धर्म ने इतना सहिष्णु और कुंठित बना दिया था कि वह हर जुल्म को अपने पाप का फल मान लेता था और सभी शोषक प्रथाओं को धर्म के नाम पर सिर माथे उठा लेता था ।

युगों की गुलामी, परंपरागत रूप से प्राप्त रूढियाँ एवं अन्धविश्वास, इन सबने मिलकर भारतीय किसान के मानस-मंडल को एक श्मशान बना दिया था जहाँ उनकी सारी अभिलाषाएँ जलायी जाती थी । दबी हुई आहें और कराहें कभी-कभी भारतीय किसान के मन के अन्तर को सहलाती हुई गरम हवा के समान बह जाती थी और उसके थप्पेडों से नये पौधे भी कुम्हला कर गिर जाते थे ।

समाज में मध्यवर्ग भी धर्म के इस क्रूर शोषण से मुक्त नहीं था जिस पर शायद धार्मिक शोषण का निर्मम बोझ सबसे अधिक पडता था । भारत का सबसे अधिक उत्पीडित नारी-वर्ग भी धार्मिक शोषण के शिकंजे में बुरी तरह जकडी हुआ था । धार्मिक मान्यताओं पर आधारित सामाजिक प्रथाओं से वे अत्यंत पीडित थीं ।

युगद्रष्टा कलाकार प्रेमचंदजी की रचनाओं में धर्म का वास्तविक स्वरूप अपनी सारी विशेषताओं के साथ उभर कर आया है । उनकी रचनाओं में समाज में होने वाली धार्मिक कुरीतियों और विकृतियों पर तीखा प्रहार किया गया है

"धर्म के बाहरी रूपों के विध्वंसात्मक तथा अकल्याणकारी पक्ष का चित्रण कर उनके दोषों की विवेचना प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में की है ।"[1]

राजनीतिक स्थिति

प्रेमचंद का युग राजनीतिक जागरण एवं नव-चेतना का युग माना जाता है । अंग्रेज शासन की दुर्व्यवस्था, भेदभावमूलक नीति, दमन और अत्याचार के कारण भारत देश अत्यंत कठिन स्थितियों से गुजर रहा था । भारतवर्ष परंतंत्रता की चक्की में पिस रहा था और मुक्ति की कामना को मन में लिए सारी जनता सिसक रही थी । इस मुक्ति के कई आयाम थे - शासन के आयाम, शोषण के आयाम और राष्ट्र-प्रेम के आयाम । भारत की राजनीति इन आयामों से जुडकर ही अपना स्वरूप प्रकट करती है ।

दो शताब्दियों से भारत में अंग्रेज सरकार की शोषण पर आधारित शासन-नीति चल रही थी । उन्होंने अपनी शासन नीति को सुगम बनाये रखने के लिए यहाँ के उच्च वर्ग को अपने ही वश में कर लिया था । इसका परिणाम यह हुआ था कि जमींदार, उद्योगपति जैसे लोगों के हाथों में सत्ता आ गयी । इस सत्ता का दुरूपयोग होने लगा और जमींदार अपनी इच्छा के अनुसार किसानों का शोषण करने लगे । क्योंकि सत्ता उनके पास थी । असंगठित किसान इन अत्याचारों के विरूद्ध आवाज उठाने में भी असमर्थ रहे । उद्योगपतियों द्वारा मज़दूरों का निर्मम शोषण हो रहा था । यद्यपि साम्यवादी विचारधाराओं का प्रचार तो हो गया था, तो भी मज़दूरों की क्रांति या संघर्ष को अक्सर सरकारी सत्ता के बल पर दबाया जाता था । इसलिए पूँजीपतियों एवं उद्योगपतियों को यहाँ खूब फलने-फूलने का अवसर सरकार से ही मिलता था । यहाँ के किसान एवं मज़दूर हीन से हीनतर बनते जा रहे थे और यहाँ तक कि शासन की नीति शोषण की नीति पर केन्द्रित रह गयी थी ।

---

1. डॉ. सुरेन्द्रनाथ तिवारी - प्रेमचंद और शरतचन्द्र के उपन्यास - मनुष्य का बिंब - पृ: 74.

जहाँ तक शासन की राजनीति है, वह शोषण की राजनीति पर आधारित होकर राष्ट्र-प्रेम की राजनीति से टकराती थी । भारतीय समाज को राजनैतिक नव-जागरण देने के महान कार्य की अग्रदूत बनी कांग्रेस पार्टी । अंग्रेजों की दासता से भारत को मुक्त कराना कांग्रेस पार्टी का मुख्य लक्ष्य रहा । राष्ट्र-प्रेम से ओत-प्रोत नेता-गण भी कांग्रेस पार्टी में थे और गाँधीजी जैसे लोगों द्वारा भारतीय जनता में नव-जागरण का सन्देश फूँका जा रहा था । अंग्रेज़ सरकार की शोषण-नीति के विरुद्ध कांग्रेस पार्टी के नेतृत्व में आन्दोलन चल रहा था और लोगों में यह भावना भी जाग चुकी थी कि आज़ादी के बिना भारतदेश का सर्वनाश नज़दीक है ।

इसप्रकार देश-प्रेम की राजनीति सीधे शासन की राजनीति से टकराती रही, क्योंकि देश-प्रेमियों का यह विश्वास था कि शासन को अपनाकर ही शोषण को समाप्त किया जा सकता है । परिणाम यह हुआ कि देश-प्रेमी देश को आज़ाद करने की बात ही सोचते रहे और उनके पास दलित, पीडित शोषित किसान-मज़दूर वर्ग की रक्षा के साधन नहीं के बराबर थे । ऐसी स्थिति में भारत की राजनीतिक स्थिति बिल्कुल अस्पष्ट प्रतिक्रियाओं से होकर सत्ता के दावपेच से गुजरती थी । अपनी दिशा को परिवर्तित करती जा रही थी । इसी में भी नेतृत्व के सवालों को लेकर कई प्रकार की आन्तरिक समस्याएं पनपती जा रही थीं, जिनमें धर्म, जाति और भाषा की संकुचित सीमा व्यक्त होती जा रही थी । प्रेमचंद की रचना प्रक्रिया इस राजनैतिक असामंजस्य की स्थितियों से परोक्ष रूप में प्रभावित लगती है ।

प्रेमचंद की रचना प्रक्रिया का विश्लेषण करते समय ऊपर विवेचित सभी पक्षों का प्रभाव द्रष्टव्य होता है । लेखकीय दृष्टि को स्थापित करने में और यथार्थ के बोध को गहराई प्रदान करने में तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, एवं आर्थिक स्थितियों का बहुत बडा योगदान रहा है । प्रेमचंद की रचनाओं को समझने के लिए समसामयिक जीवन की रूपरेखा निश्चित करने वाली इन तत्वों का

संकलन आवश्यक है क्योंकि उनका पात्र राजनीतिक स्थिति में, जमींदारी शोषण में, उद्योगपतियों के शोषण में और समाज के उच्च वर्ग द्वारा किये जाने वाले स्त्रियों के बलात्कार में और उनके प्रति किये जाने वाले असामाजिक कार्यों में कहीं-कहीं जुडता है और कहीं-कहीं विवशता के साथ दर्शक बनकर रह जाता है । अतः प्रेमचंद के यथार्थ बोध को सही अर्थ में समझने के लिए उपन्यासों का मात्र अध्ययन काफी नहीं है, परंतु उन रचनाओं में प्रतिबिंबित बोध को सर्जित करने वाले आयामों का भी अन्वेषण आवश्यक है । इस प्रसंग में उपर्युक्त विश्लेषण अधिक संगत लगता है ।

प्रेमचन्द के उपन्यास - युगचेतना के संदर्भ में

यथार्थ का बोध

हिन्दी कथा-साहित्य को अस्वाभाविकता एवं अविश्वसनीयता की दुनिया से बाहर निकालकर उसे यथार्थ जीवन की भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय प्रेमचंदजी को ही प्राप्त है । किसी भी रचना के पीछे उसके लेखक की एक निश्चित मनोभूमि एवं उद्देश्यपरकता होती है जिसके आधार पर वह अपनी रचना का ढाँचा बनाता है । इस लेखकीय मनोभूमि एवं उद्देश्यपरकता की सुस्पष्ट एवं सार्थक अभिव्यक्ति के लिए रचनाओं का यथार्थपरक होना अनिवार्य है और प्रेमचंदजी की सभी रचनाओं में तत्कालीन जीवन का यथार्थ अपनी सारी विशेषताओं के साथ उभर कर सामने आया है ।

प्रेमचंदजी उपन्यास को "मानव-चरित्र का चित्र-मात्र" मानते थे और उसके रहस्यों को खोलना उपन्यासकार का लक्ष्य भी । उपन्यासों में चित्रित मानव-चरित्र अमुक समाज का ही एक प्रतिबिंब है । चरित्र-सृष्टि समाज सापेक्ष होती है । अतः इस चरित्र-सृष्टि में लेखक का वैयक्तिक अनुभव ही नहीं, समष्टिगत अनुभव भी काम करता है । साहित्यकार को अपनी जिंदगी को ही नहीं, अपने समाज और समय की जिंदगी को भी प्रतिबिंबित करना पडता है । उसे एक ओर समय की मूल ध्वनि को अभिव्यक्त करना पडता है तथा दूसरी ओर समय और परिवेश से उपलब्ध शाश्वत तत्वों को भी ।

कला में यथार्थ की अनिवार्यता को सब स्वीकारते है । यथार्थवाद हमें काल्पनिकता की कृत्रिमता से हटाकर जीवन की सत्यता की ओर मोडता है । यथार्थ चित्रण में जीवन की वास्तविकता अपनी सम्पूर्णता के साथ उभरकर आती है और इसकी अभिव्यक्ति के लिए जीवन के कुत्सित, घिनौने और विरूप पक्षों को भी चित्रित करना पडता है । लेकिन शर्त यह है कि इससे जीवन के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न न हो । पाठकों को जीवन की सत्यता की ओर मोडने की क्षमता ही यथार्थवाद की कसौटी है ।

साहित्य में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का समर्थन करने वाले प्रेमचंदजी ने यथार्थवाद को हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र माना है । लेकिन यह चित्रण शिष्टताओं की सीमाओं को पार करने पर व्यक्ति और समाज के लिए हानिकारक होता है । प्रेमचंदजी ने "कायाकल्प" के चक्रधर द्वारा यह कहलवाया है कि "यथार्थवाद स्तुत्य है, पर नग्न यथार्थ घृणित है ।

उपन्यास मूलतः व्यक्ति और समाज के बीच घटित होने वाली घटनाओं का आलोचनात्मक अध्ययन है । अतः उपन्यासों में वैयक्तिक और सामाजिक वास्तविकताओं को चित्रित किए बिना नहीं रह सकता । जीवन के यथार्थ का यह चित्रण किताबी या सैद्धान्तिक ज्ञान के आधार पर नहीं, बल्कि लेखक के वैयक्तिक अनुभवों के आधार पर निर्भर रहता है । प्रेमचंदजी की रचनाओं की यथार्थ चित्रण की सफलता का कारण भी उनके गहन जीवन-अनुभव ही है ।

सजग कलाकार प्रेमचंदजी की रचनाओं में युगीन यथार्थ का सही भावबोध सर्वत्र बिखर पडा है । युगीन सामाजिक परिस्थितियों से वे पूर्ण रूप से अवगत थे, और अपनी रचनाओं में उसे पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने की क्षमता भी रखते थे । प्रेमचंदजी की रचनाओं में ग्रामीण एवं शहरी जीवन की धडकनें अपनी सारी विशेषताओं के साथ चित्रित है ।

प्रेमचंदजी मुख्यतः भारत की ग्रामीण जनता के दुख-दर्दों से आतुर थे और उनके जीवन में सुधार लाने का उद्देश्य लेकर साहित्य में अवतरित हुए थे। वे प्रारंभ से ही भारतीय समाज के सबसे पद-दलित किसानों की दीन-हीन अवस्था में सुधार लाना चाहते थे। शायद यही कारण होगा उनकी सभी रचनाओं में आर्थिक विषमता से ग्रस्त, नग्न, क्षुधाग्रस्त असंख्य किसानों का मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। अपने महाकाव्यात्मक उपन्यास "गोदान" भी भारत की अस्सी प्रतिशत निर्धन, दरिद्र कृषक जनता की मूक वाणी का चीत्कार है। और कृषक जीवन की समस्याओं का इतना व्यापक चित्रण शायद ही किसी अन्य रचना में मिल सकता है।

प्रेमचंद युग कृषक जीवन में परिवर्तन का युग था। महाजनी एवं साहुकारी व्यवस्था का दुष्परिणाम मुख्य रूप से किसानों पर ही पड रहा था जिसका ज्वलंत प्रमाण प्रेमचंद के गोदान, प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, वरदान, कायाकल्प आदि उपन्यासों में मिलता है। किसान अपने खून से जमींदारों और साम्राज्यवादी सरकार तथा सरकार की गोद में पलने वाले पूँजिपतियों को सींच रहे थे। महाजनी सभ्यता की उपज साहुकार किसानों को ऋण के जाल में उलझाकर उनका निष्ठुर शोषण करते जा रहे थे जिसका जीवन्त प्रमाण गोदान के झींगुरी सिंह से मिलता है। किसानों की अज्ञानता और अशिक्षा से फायदा उठाकर धर्म भी उनका निर्मम शोषण कर रहा था।

भारतीय किसान प्रायः धर्म-भीरू होता था और धर्म अपनी धार्मिकता को खोकर पुरोहित, पण्डित आदि शोषकों के हाथ का खिलावाड बन गया था। गोदान के अंत में जीवन-भर हड्डी तोडकर काम करने के बावजूद अपनी सभी आकांक्षाओं को अपने ही अन्दर समेटकर मृत्यु का वरण करने वाले होरी के पास पंडित दादादीन, जो आजीवन होरी का खून चूसता था, आकर कहता है - "गो-दान करा दो, अब यही समय है।" इस पर पत्नी धनिया बीस आने पैसे लाकर मृत होरी के हाथ में रखकर बोल उठती है - "महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे है, यही इनका गो-दान है" -। यह कहकर पछाड खाकर धनिया का गिरना कितना मार्मिक, हृदयस्पर्शी एवं दर्दनाक है और धर्म का दानवी रूप कितना भयानक भी।

यह भारतीय किसानों की एक विशेष मनोवृत्ति है कि उनमें अन्य देशों के किसानों के समान क्रांति या संघर्ष करके अपने आपको शोषण से मुक्त करने या अपने अधिकारों को प्राप्त करने की क्षमता कम है । पूर्वजन्म एवं भाग्यवाद पर आस्था रखने के कारण सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक अत्याचारों से उत्पन्न दारुण स्थिति से वे समझौता कर लेते थे । जब-जब वे संगठित होने का इरादा रखते थे, तब-तब उसे कुचल दिया जाता था जिससे वे शासन व्यवस्था से हमेशा भयभीत होते रहे ।

प्रेमचंद युग में किसानों की एक नयी विद्रोही पीढी का उदय हो रहा था जो परंपरा से हटकर क्रांति एवं संघर्ष के द्वारा अपने शोषकों से मुक्ति पाना चाहती थी । प्रेमाश्रम में मनोहर का पुत्र बलराज और गोदान में होरी का पुत्र गोबर दोनों इसके ज्वलंत प्रमाण है ।

प्रेमचंदजी की रचनाओं में समाज का दूसरा उत्पीडित एवं असहाय वर्ग भारतीय नारी का चित्र भी अपनी सम्पूर्णता के साथ उभर कर आया है । "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता" - के इस देश में नारी को भारतीय संस्कृति एवं परंपरा के अनुसार पुरुषों के समान ही आदर मिलता था । लेकिन मध्यकाल से नारियों की स्थिति अत्यंत शोचनीय बन गई थी कि उन्हें अपने मौलिक अधिकारों से भी वंचित रहना पडता था । यह परंपरा प्रेमचंद युग तक आते ही इतनी विकल हो गयी थी कि पुरुष-प्रधान समाज में नारी केवल पुरुष वर्ग का भोग-वस्तु मात्र रह गयी थी । इसकी स्पष्ट झलक प्रेमचंदजी की रचनाओं में प्रस्फुटित हुई है । पारिवारिक एवं सामाजिक दोनों क्षेत्रों की नारी की इस अत्यंत शोचनीय दशा से उत्पन्न उनकी बेबसी को प्रेमचंदजी ने अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति दी है । सामाजिक तौर पर पुरुष वर्ग अपने अहं के समक्ष नारी को महत्व देना नहीं चाहता था और पारिवारिक तौर पर अर्थहीन परिवारों में नारी एक बोझ-मात्र रह गयी थी ।

दहेज प्रथा को या आर्थिक-विषमता को नारी संबंधी अधिकांश समस्याओं का मूल जड माना जा सकता है । दहेज के अभाव से उत्पन्न विवशता के कारण कन्या के माता-पिता किसी न किसी व्यक्ति के साथ, चाहे वह बूढा भी क्यों न हो, अपनी बेटी की शादी कश लेते है जिससे अनमेल विवाह संबंधी अनेक व्यष्टिगत एवं समष्टिगत समस्याएं खडी हो जाती हैं । दहेज की भयानकता को व्यक्त करते हुए प्रेमचंदजी "निर्मला" में कहते है - "यह रूपवती है, गुणशील है, चतुर है, कुलीन है तो हुआ करें, दहेज नहीं तो उसके सारे गुण दोष है, दहेज हो तो उसके सारे दोष गुण है ।"[1]

समाज में प्रचलित बेमेल विवाह, बाल-विवाह, वृद्ध विवाह और यहाँ तक कि वेश्या-समस्या की भी जड इसी दहेज प्रथा में ही ढूँढा जा सकता है । परोक्ष रूप से देखने पर दहेज प्रथा विधवा समस्या को भी प्रश्रय देती है क्योंकि इस कुप्रथा के कारण गुणवती कन्याएँ वृद्ध एवं रोगी पति के गले मढ दी जाती हैं और असमय में पति की मृत्यु के कारण वह बेसहारा हो जाती हैं । और विधवा के रूप में और बाद में वेश्या के रूप में परिवर्तित होने के लिए बाध्य की जाती हैं । विधवाएं समाज के सबसे उत्पीडित, अभिशाप्त, तिरस्कृत एवं उपेक्षित वर्ग है । विधवायें अपने ही परिवार में दासी के समान जीवन बिताती थीं, यहाँ तक कि निकट संबंधी भी किसी न किसी प्रकार उनकी जायदाद हड़पने की ताक में रहते थे । इस शोषण चक्र में उन्हें फँसाये रखने के लिए समाज विधवाओं के पुनः विवाह को हेय दृष्टि से देखता था ।

जहाँ तक मज़दूरों का सवाल है, उसकी जडें औद्योगीकरण की स्थितियों से जुडती दिखाई पडती है । औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप नगरों में कल-कारखानों की संख्या बढ रही थी और गाँवों के किसान मज़दूर बनकर शहरों में बसने लगे थे । गाँव के किसान जमींदारों के कराल हाथों से बचने के लिए गाँव छोड जाते थे,

---

1. निर्मला - पृः 32.

पर शहरों के पूँजीपतियों के निष्ठुर हाथों में आ फँसते थे । पूँजीपति जमींदारों से अधिक भयानक शोषक थे और मज़दूरों का जीवन शहरों की गंदी गलियों में पनपने रहा था । लेकिन किसानों की अपेक्षा वे अपने अधिकारों के प्रति अधिक सचेत एवं जागरूक थे और इनके पास पढे-लिखे नेता द्वारा संचालित संगठन भी था । किसानों की तुलना में मज़दूरों की मानसिकता भिन्न थी और मिल-मालिकों को ईश्वर का प्रतिनिधि या अन्नदाता मानने के लिए तैयार नहीं थे । इन पर न धर्म की पकड़ सुदृढ़ थी और न नैतिकता की । मज़दूर एवं पूँजीपतियों के बीच स्वर्धा-भाव रहता था जिससे दोनों के बीच अक्सर तनाव एवं संघर्ष पैदा होता था और हडताल या तोडफोड की कार्रवाई भी जारी रहती थी ।

समाज में उच्चवर्ग के जीवन का स्वप्न देखने वाला, पर आर्थिक विवशता के कारण निम्न वर्ग के जीवन स्तर से ऊपर उठने में असमर्थ एक वर्ग था मध्यवर्ग । अपनी झूठी शान के कारण वे निम्न वर्ग के समान मज़दूरी करने नहीं जा सकते थे । अपनी खोखली सामाजिक प्रतिष्ठा के कारण इन्हें निम्न वर्गीय परिवारों की अपेक्षा अधिक आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पडता था । इसप्रकार आर्थिक अभाव, ऊँचे अरमान, बडप्पन का मिथ्या - प्रदर्शन इन सारे चक्रों में फँसकर यह वर्ग बुरी तरह से पिसा जा रहा था । मज़दूरों के समान संगठन बनाने में भी वे असमर्थ थे । इस वर्ग के लोग प्रायः पुराने जीवन-मूल्यों से अधिक चिपके रहते थे और इससे सडी-गली सामाजिक एवं धार्मिक मान्यताओं का पालन करने को विवश भी थे ।

समाज के उच्चवर्ग की श्रेणी में जमींदार, पूँजीपति, साहुकार, महाजन आदि आते थे । राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक बल पर जनता का निर्मम शोषण करके सभी सुख-सुविधाओं से युक्त जीवन बिताने वाले थे ये लोग । वे प्रायः सभी सामाजिक सीमाओं के परे होते थे और उनकी नैतिकता बहुत ही शिथिल भी । सबसे हेय बात यह थी कि समाज का दोनों हाथों से निर्मम शोषण करने वाले इस वर्ग को ही सामाजिक मान्यता सबसे अधिक मिलती थी ।

प्रेमचंद युग तक आते ही भारत की धार्मिक दशा अत्यंत हीन हो चुकी थी और उस पर भ्रष्टाचारिता का जंग लग चुका था । धर्म का वास्तविक रूप समाज से ओझल हो चुका था और धर्म के ठेकेदार बाह्याडंबर एवं अंधविश्वासों का जागरण करा कर समाज का अमानवीय शोषण करने में जुडे थे । धर्म अपने आन्तरिक मूल्य को खोकर कर्मकांड बाह्याचार, अंधविश्वास, रूढि और निर्जीव मान्यता मात्र रह गया था ।

तत्कालीन भारतीय समाज एवं जन-जीवन के यथार्थ से प्रेमचंदजी पूर्ण-रूप से अवगत थे और अपनी रचनाओं में उसकी संपूर्ण अभिव्यक्ति उन्होंने प्रस्तुत की है । मूलतः सुधारवादी रहने से अपनी रचनाओं में इन सामाजिक विभीषिकाओं से बचने की चेतावनी प्रेमचंदजी देते है । "भारतीय जीवन के पचासों वर्षों का सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक संघर्ष और विकास जितनी सत्यता से उनके उपन्यासों में पाया जाता है, वैसा इतिहास की पुस्तकों में ढूँढने से भी नहीं मिल सकता ।"[1]

पात्रों की विपन्नता और संघर्ष

उपन्यास विभिन्न पात्रों के भिन्न-भिन्न क्रिया-कलापों का संचित घोष है और इन क्रिया-कलापों का संचालन पात्रों की मनोभूमि के आधार पर होता है । वास्तव में पात्रों के चयन के द्वारा उपन्यासकार वह शक्ति अर्जित करता है जिसके माध्यम से वह स्थितियों का उद्घाटन आसानी से कर सकता है । प्रेमचंदजी का यह कथन यहाँ स्मरणीय है कि "मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ । मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है ।"[2] जीवन के विभिन्न पक्षों का अपनी संपूर्णता के साथ प्रस्तुतीकरण पात्रों के माध्यम से ही संभव है और इसी कारण से उपन्यासों में पात्र या चरित्र को सबसे मुख्य तत्व मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी । चरित्र-चित्रण की सफलता को उपन्यास की सफलता की कसौटी माना जाता है ।

---

1. डॉ. कृष्णदेव झारी - प्रेमचंद की उपन्यास कला का उत्कर्ष - गोदान - पृः 25.
2. कुछ विचार - पृः 47.

उपन्यासों में पात्रों द्वारा घटित घटनाओं के आधार पर प्रत्येक पात्र के चरित्र पर प्रकाश पडता है । चरित्र विकास में संवाद का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है और पात्रों का प्रत्येक शब्द उनके मनोभाव और चरित्र पर ज़रूर प्रकाश डालता है । चरित्र के अनुसार ही विचार होता है और पतित एवं सभ्य चरित्र को उनके विचारों से पहचाना जा सकता है ।

आधुनिक युग के उपन्यासकारों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का प्रभाव गहन रूप स चरित्र-चित्रण पर पडा है । इस क्षेत्र में सबसे उल्लेखनीय नाम सिग्मंड फ्रायड का है जिनसे आधुनिक मनोविश्लेषण सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन हुआ था और इसका व्यापक प्रभाव साहित्य के सभी क्षेत्रों में आज भी स्पष्ट परिलक्षित होता है । सिद्धांत: मनोविज्ञान मानव की मानसिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण है । फ्रायड के काम सिद्धांत, एडलर के उच्चता-ग्रंथी सिद्धांत एवं युंग के अचेतन मन का विश्लेषणवादी सिद्धांत - इन तीनों सिद्धांतों का प्रभाव आज के प्राय: सभी उपन्यासों में किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता है ।

आज के अधिकांश उपन्यासों में ऐसे पात्रों की कमी नहीं है जिनकी मनोवृत्ति अंतर्मुखी या बहिर्मुखी होती है । इन चरित्रों का बहुत बडा अंश, जो व्यक्त आचारण को प्रेरित एवं प्रभावित करता है, अव्यक्त ही रहता है । मन की अतल गहराइयों में छिपी इस "अव्यक्त" को ढूँढ निकालकर पाठक के सामने खोलकर दिखाना ही एक सफल चरित्र-चित्रणकार का मुख्य काम होता है । चरित्र के व्यक्त एवं अव्यक्त रूप, दोनों के सफल सम्मिश्रण से ही जीवंत पात्र का जन्म होता है ।

प्रेमचंदजी के लिए जीवन से अटूट संबंध ही कला की प्रासंगिकता की कसौटी है और उपन्यास सामाजिक विसंगतियों की अभिव्यक्ति एवं सुधार का सशक्त माध्यम भी । उनके पात्र अक्सर अपने युग की उपज होते है और युगीन वास्तविकताओं से तादात्म्य स्थापित करने वाले भी । उनकी रचनाओं में विशेषकर उपन्यासों में समाज में सुधार लाने की उनकी असीम वाँछा द्रष्टव्य है । वे अपने

उपन्यासों का उपयोग सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मानते थे और इसलिए उनके पात्रों का सामाजिक धरातल पर टिका हुआ होना स्वाभाविक ही है। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में भारतीय समाज के सभी वर्गों के जीवन को अपनी सभी विशेषताओं के साथ अंकित किया है। उनके अधिकांश पात्र यथार्थ जीवन के है, काल्पनिक जगत के नहीं और वे प्रायः आदर्शोन्मुखी एवं सुधारवादी प्रवृत्ति के भी हैं।

प्रारंभिक उपन्यास "सेवासदन" में नायिका सुमन एवं उनके पति गजाधर का सुधर जाने से लेकर यहाँ तक कि "गोदान" को छोडकर अन्य सभी उपन्यास में यह सुधारवादी दृष्टिकोण पाया जाता है। सेवासदन, प्रतिज्ञा, वरदान, निर्मला आदि उपन्यास आदर्शवादी ढंग पर लिखे गये हैं, यद्यपि निर्मला में समस्याओं के किसी आदर्शवादी हल का सुझाव नहीं रखा गया है। इन उपन्यासों से हिन्दी उपन्यास जगत में प्रथम बार मानवीय संवेदनाओं के व्यापक और उदात्त रूप से हम परिचित हो जाते हैं। प्रेमचंद के सभी पात्र वैयक्तिक या जहरीले सामाजिक अन्तर्विरोधों से बुरी तरह पीडित है। पात्रों की यह मानसिक विपन्नता सेवासदन के गजाधर और सुमन से प्रारंभ होती है और गोदान के होरी में आकर उसकी चरम परिणति हो जाती है। "वरदान" के प्रताप चन्द्र और ब्रजरानी और गबन के रमानाथ और जालपा ये सब सडी-गली सामाजिक व्यवस्था एवं वैयक्तिक कमजोरियों के कारण घोर आत्म संघर्ष में ही जीवन बिताते हैं।

"निर्मला" में वैवाहिक जीवन की विसंगतियों पर प्रकाश डाला गया है और इसकी नायिका निर्मला का विवाह अपने ही पिता के समान एक बूढे व्यक्ति के साथ सम्पन्न होता है। निर्मला अपने पति तोताराम को एक पति के रूप में नहीं, एक पिता के रूप में देखती है। यह एक ऐसी मानसिक विपन्नता है जिससे निर्मला आजीवन मुक्त नहीं पाती, यहाँ तक कि अपनी मृत्यु-शय्या पर भी। विधवा जीवन की करुण-कहानी "प्रतिज्ञा" में विधवा पूर्णा भी सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं से पीडित है जिनकी विभीषिकाओं से उसे आजीवन मुक्ति नहीं मिलती।

कृषक एवं जमींदार-जीवन की समस्याओं का चित्रण करने वाले "प्रेमाश्रम" में जमींदारी प्रथा की पुरानी पीढी के प्रतिनिधि पात्र प्रभाशंकर एवं नई पीढि के प्रतिनिधि पात्र ज्ञानशंकर दोनों के बीच मन-मुटाव है जिससे दोनों पात्र मानसिक व्यथा को झेलते ही जीवन बिताते है । इसका मुख्य पात्र प्रेमशंकर किसानों के जीवन में सुधार लाने के प्रयत्न में जुडा हुआ है और उसे भी अनेक प्रकार की सामाजिक एवं वैयक्तिक अन्तर्द्वन्द्वों से गुज़रना पडता है । साम्प्रदायिक समस्या का विस्तार से वर्णन करने वाले उपन्यास "कायाकल्प" में साम्प्रदायिकता की विषैली हवा के लग जाने से ख्वाजा महमूद अपने घनिष्ठ मित्र यशोदानन्दन की हत्या कर देता है । वास्तविकताओं से अवगत होने पर ख्वाजा महमूद पश्चताप करता है और जीवन-भर घोर मानसिक संघर्ष में जीवन बिताता है । देश-प्रेम एवं सेवा-भाव से ओत-प्रोत आदर्शवादी पात्र चक्रधर भी अपने संग्रामों में पराजित हो जाने से अन्तर्द्वन्द्वों से गुजरता है । और समाज-सेवा की भावना से ओत-प्रोत मनोरमा भी अंत में निराश होकर एकाकी जीवन बिताती है और वह भी घोर मानसिक विपन्नता की स्थिति से गुजरती है ।

पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति का दुष्प्रभाव, महंत और जमींदारों द्वारा किसानों का निर्मम शोषण, अछूतों की समस्या, नारी-जागरण की समस्या, अंग्रेज सरकार की दमन नीति आदि देशव्यापी समस्याओं का चित्रण करने वाली रचना "कर्मभूमि" का नायक अमरकांत है । नायिका सुखदा पुरुष को प्रधानता देने वाले परंपरागत प्राचीन मूल्यों के प्रति विद्रोह करने वाली नारी है । सुखदा से असन्तुष्ट होकर अमरकांत सकीना की ओर आकृष्ट हो जाता है जिससे तीनों के जीवन में समस्याएँ खडी हो जाती हैं । इससे वे तीनों तीव्र आत्मसंघर्ष में जीवन बिताते हैं। इसके अन्य पात्र डॉ. देवकुमार, सलोनी, मुन्नी, आदि हैं, वे भी घोर अन्तर्द्वन्द्वों से गुजरते हैं ।

प्रेमचंद के पहले महाकाव्यात्मक उपन्यास रंगभूमि में गाँधीवादी आदर्शों का प्रतीक सूरदास नामक एक भिखारी एवं उद्योगपति जॉन-सेवक के बीच के संघर्ष को अभिव्यक्ति मिली है। अपनी जमीन बचाने के लिए सूरदास अंत तक संघर्षरत रहता है और अंत में उसकी मृत्यु भी उसी ज़मीन के लिए होती है। पर उद्योगपति जॉन सेवक भी अंत में यह स्वीकारने को विवश हो जाता है कि अपनी संग्राम में सूरदास की मृत्यु होने पर भी उसकी ही जीत हुई है। प्रारंभ से लेकर अंत तक दोनों पात्र घोर आत्म-संघर्ष में रहते हैं। इसका मुख्य नारी पात्र सोफिया विनय नामक दुर्बल चरित्र के साथ प्रेम-संबंध रखती है जो अंत में अपनी कायरता के कारण आत्महत्या करता है। इनका जीवन भी अन्तर्द्वन्द्वों से ग्रस्त है। इसके सभी पात्र प्राचीन एवं नवीन जीवन-मूल्यों और नैतिक प्रतिमानों के बीच अविरल संघर्ष करने वाले हैं।

प्रेमचंदजी का अंतिम पूर्ण उपन्यास "गोदान" में पात्र-संरचना की परिपक्वता हम देखते है। इसका मुख्य पात्र होरी नामक एक साधारण भारतीय किसान है जो एक गाय पालने की मामूली लालसा को मन में रखकर जीवन-भर संघर्ष करता है और अंत में अपनी अरमान को अधूरा ही छोड कर इस दुनिया से चल बसता है जिंदगी भर वह अपने और दूसरों के दुख को अपने ही ऊपर ले लेता है और और अंत में जीवन की कठिन बोझ से पिस-पिसकर सडक पर गिर पडता है और दम तोडता है। दिन-रात कठिनतम प्रयत्न करने पर भी उसे पेट-भर की रोटी भी नहीं मिलती थी। परिस्थितियों की जहरीली झोंकों से इतना आहत है कि दो सौ रूपये पर अपनी बेटी को एक वृद्ध के हाथ बेच डालने को वह विवश है। साहुकार एवं जमींदारों के दारूण पंजों से छूटने के लिए वह जिन्दगी-भर परिश्रम करता है, पर अंत में ज़मीन खोकर मज़दूर बनता है और सडक की झुलसती धूप में पत्थर तोडने को विवश बन जाता है। पूर्ण रूप से भारतीय संस्कृति में पला हुआ होने से उस व्यवस्था के प्रति संघर्ष करने में भी वह असमर्थ है जिसके कारण उसकी यह दशा हो रही थी। जीवन-भर अपनी विवशताओं से विपन्न होकर वह संघर्ष करता है, पर कभी सफल नहीं होता। आर्थिक वैषम्य के साथ वह अंधविश्वास एवं सामाजिक कुरीतियों से भी बुरी तरह पीडित है। समाज में व्याप्त दूषित वातावरण के कारण उसके सारे सद्गुण अवगुण बन जाते हैं और जिन्दगी

भर संघर्ष करके असफल ही दम-तोडने को विवश हो जाता है । वास्तव में होरी के चरित्र में अभिव्यक्त मानसिक अन्तर्द्वन्द्व एवं संघर्ष हिन्दी के अन्य उपन्यासों में कम दिखाई देते है ।

इसका अन्य मुख्य पात्र नयी पीढी की उभरती विचारधाराओं का प्रतीक, होरी का इकलौता बेटा गोबर है । गाँव छोडकर वह शहर का मज़दूर बनता है और उद्योगपतियों के विरुद्ध क्रांति चलाता है जिसमें वह स्वयं आहत हो जाता है । अपनी लक्ष्य की प्राप्ति की कामना होकर वह जीवन-भर संघर्ष करता रहता है । इसमें मगर-मच्छ की आँसु बहाकर जनता को दोनों हाथों से लूटने वाले जमींदार रायसाहब अमरपालसिंह को भी जीवन में सुख एक मृग-मरीचिका के समान ही है । ह्रासोन्मुख सामन्तवाद का प्रतीक रायसाहब अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए हमेशा तडपता रहता है, पर कभी भी सफल नहीं होता ।

जीवन की विडंबनापूर्ण वास्तविकताओं से अवगत धनिया, पति होरी से अधिक सामाजिक अन्याय एवं अत्याचारों के प्रति जागरूक एवं विद्रोही-भावना से ओत-प्रोत है । पर जीवन की जटिलतम परिस्थितियों के दारुण पंजों से वह कभी भी मुक्त नहीं हो पाती है । अन्य पात्र जैसे झुनिया, सिलिया, रूपा, पूर्णा, मातादीन आदि हैं, वे भी जीवन-भर आत्म-संघर्ष से गुजरते है । गोदान के सभी पात्र व्यष्टिगत या समष्टिगत विवशताओं से विपन्न है और यही मानवीय विवशता ही गोदान की मुख्य समस्या है । "शोषणग्रस्त भारतीय कृषक समाज की आशाओं और आकांक्षाओं, विवशताओं और विपन्नताओं के हृदयग्राही चित्रण की दृष्टि से गोदान को शोषित और दलित मानवता का एक विशाल भावसागर कहा जा सकता है । "[1]

---

1. डॉ. जनेश्वर वर्मा-प्रेमचंद एक मार्क्सवादी मूल्यांकन - पृ: 304.

युग-चेतना के चित्रकार प्रेमचंद ने पात्रों के माध्यम से एक ऐसे मायिक संसार की कल्पना की है जिसमें हर आदमी और औरत विशिष्ट सीमाओं से बनते होकर जीवन जीने के लिए अभिशप्त है । सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के कारण एक ओर किसान और मज़दूरों का जीवन विपन्नता का शिकार बन जाता है तो दूसरी ओर नियति के विधान के माध्यम से धनी वर्ग के लोग भी कहीं न कहीं असन्तुष्ट और पीडा को भोगने के लिए मज़बूर किए जाते है । वर्ग संघर्ष की बात छोड देने पर भी मानवीय संवेदना के स्तर पर उभरने वाली यह विपन्नता प्रेमचंद की मानवतावादी दृष्टि का समर्थन करती है । पात्र नियति को कथा के चयन के साथ जोडकर जीवन की अनिवार्य दुखात्मक स्थिति का या त्रासदायक अंत का चित्रण करना सिर्फ प्रेमचंद के ही बस की बात है । इसलिए संकट और संघर्ष के अतल से उभर कर आने वाले प्रेमचंद के पात्र मानवीय नियति की विपन्नता का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं जो भारतीय जन-जीवन की अंधेरी गुफाओं को प्रकाश की लुप्त भूमि की मौन घोषणा करते हैं ।

मुक्ति का सन्देश

जागरूक कलाकार प्रेमचंद के साहित्य में मानव ही सबसे प्रमुख तथ्य रहा है । जीवन में जो कुछ सुन्दर, स्वस्थ एवं कल्याणकारी है, वही उन्हें ग्राह्य है । दानवता और पशुता के समक्ष उन्होंने मानवता को उच्च पद पर उद्घोषित किया है । समाज के प्रति साहित्यकार का जो दायित्व है, उन्हें वे सफलतापूर्वक निभा सके हैं । उनका संपूर्ण साहित्य व्यक्ति और समाज मंगल की भावना से ओत-प्रोत है । सामाजिक ढाँचे की मूलभूत इकाई व्यक्ति को सबसे अधिक प्रधानता उन्होंने दी है । इसलिए व्यक्ति सुधार का स्वर उनकी रचना में अत्यंत तीव्र है । उन्होंने चारों तरफ से घिरे हुए व्यक्ति मानस को अपनी रचनाओं द्वारा मुक्ति का संदेश दिया है ।

प्रेमचंद के प्रारंभ कालीन उपन्यास "सेवासदन" में भी इसी मुक्ति का संदेश है । नायिका सुमन विषैली परिस्थितियों के भँवर में पड जाने पर भी अंत में सुधर जाती है और दूसरों को सुधारने में लग जाती है । "प्रेमचंद ने उसे नीचे गिराकर छोड नहीं दिया । उसके महनीय पक्ष को भी चित्रित किया है । सामाजिक दृष्टि से गिरकर भी "सुमन" में मानवीय आदर्शों की ओर सदैव झुकाव रहा है । उसके प्रति सहानुभूति का कारण भी यही है ।"[1] सेवासदन की स्थापना करके नगर के अन्य दलित वेश्याओं को भी सुधरने का मार्ग उसने दिखाया है । उसके पति गजाधर भी सुधर जाते हैं और दूसरों को सुधारने के प्रयत्न में जीवन बिता रहे हैं । प्रेमचंद के रचनाकाल के प्रारंभ में गाँधीवाद का असर उन पर खूब पडा था । "प्रेमचंदजी ने अपनी सामाजिक आस्थाओं के संबंध में प्रमुख रूप से दो बातें लिखी हैं, एक तो यह है कि "मैं गाँधीवादी नहीं हूँ, केवल गाँधीजी के "चेंज आफ हार्ट" में विश्वास करता हूँ और दूसरी मैं कम्यूनिस्ट हूँ, किन्तु मेरा कम्यूनिज़्म केवल इतना ही है कि हमारे देश में जमींदार, सेठ आदि जो कृषकों के शोषक है, न रहें ।"[2]

गाँधीजी के "हृदय परिवर्तन" पर प्रेमचंदजी अटल आस्था रखते थे । इसलिए होगा उनके अधिकांश पात्रों का हृदय-परिवर्तन भी । कर्मभूमि, प्रेमाश्रम, गबन आदि उपन्यासों में भी प्रेमचंदजी ने मुक्ति का संदेश दिया है । यह मुक्ति कभी पूँजीवादी शोषण व्यवस्था से है तो कभी सडी-गली सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्थाओं से, कभी अंग्रेज शासन के दारुण पंजों से है तो कभी-कभी देश में प्रचलित नौकरशाही से, कभी जमींदारों एवं महाजनों से है तो कभी-कभी मगरमच्छ के आँसु बहाने वाले सामाजिक सुधारकों से । प्रारंभ में प्रेमचंद का यह दृढ़ विश्वास था कि किसी न किसी दिन समाज इन दुर्व्यस्थाओं और अत्याचारों से मुक्ति प्राप्त करेगा । इसके लिए सबसे सुगम एवं शाश्वत लगने वाला मार्ग भी उनके लिए हृदय परिवर्तन ही था ।

---

1. डॉ. सुरेन्द्रनाथ तिवारी - प्रेमचंद और शरतचन्द्र के उपन्यास - मनुष्य का बिंब - पृ: 116.
2. डॉ. पीतांबर सरोदे - आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक एवं आर्थिक प्रभाव - पृ: 46.

लेकिन समय के गुजरने पर उन्हें यह मालूम हो गया था कि व्यक्ति के हृदय-परिवर्तन पर आधारित सामाजिक सुधार स्थाई नहीं हो सकता । इसलिए होगा निर्मला, गोदान आदि रचनाओं में उन्होंने निष्कर्ष या समाधान हमारी समझ पर छोडा है । समाज की दशा ऐसी है, सुधार लाना है, पर मार्ग तो समाज के सम्मुख ही है । यहाँ तक कि "रंगभूमि" में भी सूरदास की मृत्यु हो जाती है, पर उद्योगपति जॉन सेवक पर इसका कोई प्रभाव नहीं पडता । यहाँ भी समाज की बुरी हालत से हमें वे अवगत कराते हैं और चेतावनी देते है कि इससे मुक्ति पाने के लिए जो कुछ करना है, सब समाज पर निर्भर है ।

यहाँ यह परम ध्यान देने योग्य है कि प्रेमचंदजी किसी वाद-विवाद को मुक्ति का साधन नहीं मानते थे । कर्मभूमि का अमरकांत जो गाँधीवादी आदर्शों की प्रतिमूर्ति है, वह भी व्यक्ति जीवन में आदर्शों और सिद्धान्तों से विमुख होकर नैतिक पतन का जीवन बिताता है । इस अमरकांत के द्वारा उन्होंने शायद गाँधीवाद की सीमा-रेखा हमारे सामने खींची है । और प्रगतिवादी विचारों से ओत-प्रोत गोदान का गोबर भी जो समाजवादी है या यहाँ तक कि क्रांतिकारी है, क्रांति में आहत हो जाता है और निज जीवन में भी अपनी चारित्रिक दुर्बलताओं के कारण आहत हो जाता है । प्रेमचंदजी समाज में मानवीयता के आधार पर सुधार लाना चाहते थे, न कि किसी वाद-विवाद के आधार पर । "अपने उपन्यासों में प्रेमचंद ने एक ऐसे यथार्थवादी आदर्श का प्रतिपादन किया है जो प्रत्येक पाठक की आत्मा का परिष्कार और बुद्धि का निखार करता है और जीवन संघर्ष में जूझने की प्रेरणा और अदम्य साहस प्रदान करता है ।"[1] और यह "आत्मा का परिष्कार" वे भारतीय संस्कृति एवं नैतिक मूल्यों के आधार पर करना चाहते हैं ।

---

1. डॉ. भक्तराम शर्मा - प्रेमचंद और चेखव - पृ: 86.

समस्याएँ और समाधान

किसी न किसी वैयक्तिक या सामाजिक समस्या को केन्द्र बनाकर ही उपन्यास की रचना होती है । प्रेमचंदजी के सभी उपन्यासों को युगीन समस्याओं का प्रतिरूप ही माना जा सकता है क्योंकि प्रेमचंद जैसे श्रेष्ठ जागरूक कलाकार के लिए अपनी युगीन समस्याओं से अछूता रहना असंभव था और आदर्शवादी लेखक होने के कारण इन समस्याओं का आदर्शवान समाधान प्रस्तुत करना भी सहज ही था ।

आदर्शवादी प्रेमचंद पर प्रारंभ से ही आर्य समाज का खूब प्रभाव पडा था जिसका मुख्य काम पीडित, शोषित भारतीय नारी को जागरण का संदेश देना था । ब्रह्म समाज एवं प्रार्थना समाज द्वारा भी नारी नवोत्थान के प्रयास किये जा रहे थे । प्रेमचंदजी पर इन समाजों का गहरा प्रभाव पडा था और वे प्रारंभ से नारी की दीन-हीन दशा को सुधारने के लिए प्रयत्नशील रहे । समाज में नारी संबंधी समस्याएँ अनेक थीं - जैसे दहेज प्रथा, बाल विवाह, बेमेल विवाह, वृद्ध विवाह, बहु विवाह, वेश्या समस्या, विधवा समस्या आदि । इन सभी समस्याओं का विस्तारपूर्वक चित्रण प्रेमचंदजी ने अपनी रचनाओं में किया है ।

दहेज की समस्या समाज की एक अत्यंत विकट समस्या थी जिसका स्थाई समाधान युवकों के बौद्धिक जागरण से ही संभव था । अर्थ-प्रधान समाज में कन्या का विवाह दहेज के बिना असंभव माना जाता था । दहेज न देने पर कन्या के सारे गुण अवगुण बन जाते थे । दहेज के धन को एकत्रित करने के लिए व्यक्तियों को अक्सर गलत रास्ते में जाना पडता था जैसे सेवासदन में सुमन के पिता को करना पडा था । दहेज देने में असमर्थ रहने पर कुपात्रों के साथ कन्या का विवाह सम्पन्न करने को माँ-बाप विवश हो जाते थे । नारी संबंधी अधिकांश समस्याओं का मूल इसी में ढूँढा जा सकता है ।

प्रेमचंद युग में बाल-विवाह भी प्रचलित था और इसका दुष्परिणाम समाज पर अवश्य पड रहा था । इसके दुष्परिणामों को समाज के सम्मुख खोलकर दिखाकर जनता को इससे अवगत कराना ही इसका समाधान है । प्रेमचंदजी ने इसे अपनी रचनाओं द्वारा भली-भाँति निभाया है । अनमेल विवाह इससे भीषण समस्या बन चुकी थी और इसके शिकार होने वाले जीवन-भर दुख झेलते ही रहते थे । इसके मूल में भी अक्सर दहेज प्रथा ही काम करती थी । प्रेमचंदजी के उपन्यास निर्मला में उदयभानु की पुत्री निर्मला का विवाह बूढे तोताराम से की जाती है जिससे दोनों व्यक्तियों का ही नहीं, दोनों परिवारों का सर्वनाश हो जाता है । सेवासदन में सुमन का विवाह दहेज के अभाव के कारण गजाधर बाबू से संपन्न होता है जो बिल्कुल भिन्न मानसिकता एवं संस्कृति रखने वाला है । यहाँ का बेमेल भाव पूर्णतः मानसिक है । गोदान का होरी भी अपनी बेटी को एक बूढे के गले मढ़ देता है जो उसकी विवशता की परकाष्ठा है । इन पात्रों के द्वारा प्रेमचंदजी ने यह साफ दिखाया है कि समाज में अनमेल विवाह का क्या परिणाम हो सकता है और अंततोगत्वा समाज को इससे बचने की चेतावनी भी उन्होंने दी है ।

प्रेमचंद युगीन समाज में वृद्ध विवाह एवं बहु-विवाह दोनों अत्यंत भीषण समस्याएँ बन चुकी थीं । प्रायः दहेज के अभाव को मिटाने के लिए कन्या के माँ-बाप समाज के प्रतिष्ठित बूढे व्यक्तियों के साथ अपनी कन्या का विवाह करा देते थे । एक हद तक यह सामाजिक प्रतिष्ठा को बनाये रखने का झूठा माध्यम बन गया था । दूसरी तरफ पैसे वाले बूढे व्यक्ति नव कन्याओं के माँ-बाप को पैसे देकर या जाल में उन्हें फँसाकर कन्याओं को खरीदते थे । गोदान में होरी रामसेवक से लिए पैसे को वापस न दे सकने के कारण ही विवश होकर अपनी पुत्री रूपा का विवाह उससे करा देता है जो खुद उससे तीन-चार साल का ही छोटा है । बहु-विवाह भी समाज में फैला हुआ था और इसके दुष्परिणामों को समाज के सामने खोल दिखाकर समाज को उससे उबारने का प्रयत्न प्रेमचंदजी ने अपनी रचनाओं में किया है ।

इन सभी समस्याओं से भयानक समस्या थी वेश्या समस्या जिसका भी मूल कारण आर्थिक पराधीनता में ढूँढा जा सकता है । आर्थिक अभाव में रहने वाली नारियाँ लौकिक सुख-सुविधाओं की तरफ जल्दी ही आकृष्ट हो जाती है और उसकी सिद्धि के लिए वे वेश्या तक बन जाती है । सेवासदन के सुमन के चरित्र द्वारा प्रेमचंदजी ने वेश्या समस्या के सभी पहलुओं पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है । पर प्रेमचंदजी ने इन वेश्याओं को मानवीय स्तर से गिरे, पशु बनने नहीं दिया है और उनके अंदर भी मानवीय सद्गुणों को जगाकर उन्हें सुधारने की योजना बनाई है । इसके लिए उन्होंने सेवासदन जैसी संस्थाएं खोलकर उन्हें सही रास्ते पर लाने का सुझाव दिया है । साथ ही इस सेवासदन में नारी की आर्थिक पराधीनता से उसे छुडाने का कदम भी उठाया गया है ।

विधवा समस्या से भी समाज की दुर्दशा हो रही थी और इसका समाधान प्रेमचंदजी ने विधवा विाह ही रखा है । उन्होंने प्रतिज्ञा में अमरकांत द्वारा विधवा विवाह का समर्थन करके दिखाया है और विधवाओं के लिए वनिताश्रम खुलवाकर भी उन्हें इस भीषण समस्या से बचाने का सुझाव दिया है । साथ ही इस समस्या के समाधान के लिए पति की संपत्ति पर विधवाओं को अधिकार दिलाने का भी समर्थन प्रेमचंदजी ने किया है जिससे वे अपनी आर्थिक पराधीनता से मुक्ति पा सकें ।

प्रेमचंद युगीन भारतीय किसानों की दशा अत्यंत शोचनीय थी । वे शोषण की चक्की में पिसे जा रहे थे । एक ओर जमींदार और महाजन और दूसरी ओर सडी-गली सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक दशा, इन दोनों के बीच किसान पिसते जा रहे थे । किसानों को इन समस्याओं से मुक्ति दिलाने के लिए प्रेमचंदजी ने कभी आदर्शवादी सुधारकों को सृष्टि की है तो कभी-कभी समाजवादी या गाँधीवादी आदर्शों की प्रतिमूर्तियों द्वारा भी सुधार लाने का प्रयत्न किया है । खल-नायकों के हृदय-परिवर्तन द्वारा भी उन्होंने इसे सम्पन्न किया है ।

मज़दूरों की स्थिति भी आशावान नहीं थी । उद्योगपतियों के साथ उनका संबंध गिड रहा था और वे अपना दल बनाकर उद्योगपतियों के विरुद्ध संघर्ष भी करने लगे थे । प्रेमचंदजी ने गोदान के गोबर द्वारा मज़दूरों की तत्कालीन अवस्था पर प्रकाश डाला है । संघर्ष में गोबर को आहत दिखाया गया है और उद्योगपतियों और मज़दूरों के बीच होने वाले इस संघर्ष का कोई कृत्रिम समाधान प्रस्तुत नहीं किया गया है ।

मध्यवर्गीय समाज की सबसे भीषण समस्या आर्थिक वैषम्य ही रही थी और इससे मुक्ति पाने के लिए उन्होंने संयुक्त परिवार प्रथा की टूटन पर बल दिया है और परिवार के सभी सदस्यों को कमाई करने का सुझाव दिया है । नारी विषयक सभी समस्याओं का सबसे भीषण रूप मध्यवर्गीय नारी समाज में ही पाया जाता था ।

देश की राजनीतिक समस्या पर भी उन्होंने गंभीरतापूर्वक विचार किया था और अंग्रेज सरकार की दासता से मुक्ति पाने का खुलकर आह्वान भी किया था ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हमें ऐसा लगता है कि प्रेमचंद प्रारंभ से ही भारतीय संस्कृति एवं नैतिक मूल्यों पर आधारित मानवीय सुधार को ही सामाजिक समस्याओं का हल मानते थे ।

"आरंभ में वे समस्याओं का समाधान समाज सुधार में खोजते रहे, जिसे उन पर पडे आर्य समाज का परिणाम कहा जा सकता है । इस काल की रचनाओं में उन्होंने वेश्या समस्या, विधवा समस्या, अनमेल विवाह, बाल विवाह आदि नारी जीवन से संबंधित विविध सामाजिक समस्याओं को अपने कथा साहित्य में चित्रित किया है । वे समझते थे कि सभी सामाजिक - आर्थिक विसंगतियाँ पराधीनता का ही परिणाम है ।"[1]

---

1. डॉ. जयभगवान गोयल - साहित्य चिंतन -पृ: 187.

लेकिन प्रेमचंदजी की अंतिम रचनाओं को पढने से हमें ऐसा लगता है कि सामाजिक सुधार एवं हृदय परिवर्तन से उनकी आस्था उठ चुकी थी । इसी वजह से होगा, गोदान जैसी कृतियों का अंत पाठक पर ही छोडा गया है, कोई सुधार, मन-परिवर्तन या कृत्रिम उपाय का सुझाव नहीं दिया गया है । वास्तव में साहित्यकार का दायित्व रचना के द्वारा समस्या-समाधान प्रस्तुत करना नहीं है, समस्या का हल कैसे ढूँढना है, उसे पाठक पर छोड देना ही उचित है । "शाश्वत आदर्श न प्रस्तुत करने वाली कितनी ही रचनाएँ, जो मनुष्य को समझने में सहायक है, शाश्वत मूल्य की सिद्धि हो चुकी है । अतः नए दृष्टिकोण के अनुसार उपन्यासकार का कर्त्तव्य जीवन को सुधारना नहीं, उसे समझना है ।"[1]

मसीहा का रूप

श्रेष्ठ साहित्य हमेशा समाज-मंगल की भावना से ओत-प्रोत रहता है, क्योंकि व्यक्ति एवं समाज के सूक्ष्म स्पन्दन ही साहित्य में अभिव्यक्त होते है । इन स्पन्दनों की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति से ही महान साहित्य की सृष्टि होती है । इसे व्यक्ति जीवन में ही ढूँढा जा सकता है । व्यक्ति जीवन अक्सर समस्याओं से गुजरता है और इन समस्याओं से साहित्यकार अपना कच्चा माल जुटाता है ।

साहित्य अपने आप में साध्य नहीं है, बल्कि कुछ और उदात्त साध्यों को प्राप्त करने का माध्यम है । वस्तुतः साहित्य का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य आत्म-परिष्कार है और आत्म-परिष्कार की उत्प्रेरणा देने वाले साहित्यकार समाज में मसीहा का रूप धारण करके आते हैं । असत् को परास्त करके सत् की प्राप्ती होने से आत्म-परिष्कार होता है और प्रेमचंदजी की सभी रचनाओं में असत् को परास्त करने की उत्प्रेरणा है । "मुंशी प्रेमचंद संभवतः साहित्यकार को मसीहा मानते थे । तभी तो उन्होंने कहा - "साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और

---

1. डॉ. गणेशन - हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन - पृः 31.

मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है । वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं है बल्कि उनसे आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है ।"[1]

प्रेमचंदजी स्पष्टतः साहित्यकार को आत्म-परिष्कार का माध्यम मानते थे और पशुत्व के स्थान पर देवत्व को मानव मन में जगाना ही साहित्य का फर्ज़ स्वीकारते थे । इस लक्ष्यप्राप्ती के लिए उन्होंने अपनी रचनाओं में सफलतापूर्वक कोशिश की है और आज वे भारतीय समाज के सामने मसीहा का रूप धारण करके बने हुए हैं ।

प्रेमचंद युगीन समाज में अनेक जटिल समस्याएँ थीं और उन्हें सुलझाने का आदर्शपरक सुझाव उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा समाज के सामने रखा है । प्रेमचंद युगीन समाज में बदलते नैतिक मूल्यों की टक्कराहट हो रही थी और तत्कालीन समाज के सामने एक उपयुक्त नैतिक प्रतिमान का निर्धारण करना अनिवार्य बन गया था । साहित्य के संदर्भ में यह विशिष्ट रूप से महत्वपूर्ण है । और व्यक्ति के सुगम सामाजिक संबंध को बनाये रखने के लिए कुछ नैतिक प्रतिमानों की स्थापना समाज के लिए अनिवार्य है । यह भी सच है कि दुनिया की हर वस्तु की तरह सामाजिक मूल्य भी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में बदलते रहते है । "स्पष्ट है कि सामाजिक मूल्य बदलते हैं, वे शाश्वत और निरपेक्ष सत्य नहीं होते है, उनके बदलने में साहित्य की भी भूमिका होती है और उनके बदलाव का इतिहास साहित्य में सुरक्षित रहता है ।"[2]

---

1. डॉ. सुशीलकुमार - "फुल्ल" - कहानी का समाजशास्त्रीय आधार - पृः
2. डॉ. हरदयाल - साहित्य और सामाजिक मूल्य - पृः 22.

प्रेमचंदजी मूलतः भारतीय संस्कृति एवं सामाजिक मूल्यों पर अटल आस्था रखने वाले थे और इनकी पुनः स्थापना करने के लिए आजीवन परिश्रम करते थे। भारतीय समाज से ये परंपरागत मूल्य ओझल हो रहे थे और उनके बदले नवीन मूल्यों की स्थापना हो रही थी। प्रेमचंदजी सभी मूल्यों को मानव-कल्याण का माध्यम मानते थे चाहे वे प्राचीन हो या नवीन। इसलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में समाज के लिए हितकर मूल्यों की स्थापना का समर्थन किया है चाहे वे प्राचीन हो या नवीन। प्रेमचंदजी का यह दृढ़ विश्वास था कि पतन की ओर अग्रसर इस भारतीय समाज का सुधार केवल इन मूल्यों की पुनः स्थापना से ही संभव है। अतः उनकी सभी रचनाओं में इस मूल्य पुनःस्थापना की भावना देखी जा सकती है। साथ ही समाजहित पर आघात पहुँचाने वाले सभी मूल्य प्रतिमानों की निन्दा भी उन्होंने की है। "उन्होंने सडी हुई परंपरावादी मूल्य एवं नवीन भौतिकतावादी मूल्य-दोनों की निन्दा की। उन्होंने भारतीय विचारकों एवं दार्शनिकों द्वारा निर्धारित आचरण के मूलभूत मानवीय आदर्शों के प्रकाश को अंधकार ग्रसित भारतीय समाज के सामने प्रस्तुत किया।"[1] यही कारण है उनकी सभी रचनाओं में सेवा, त्याग, अहिंसा, निस्वार्थ, परोपकार, सद्व्यवहार, कृतज्ञता आदि सामाजिक मूल्यों को पुनःप्रतिष्ठा मिली है। समाज सुधार के लिए सेवासदन, वनिताश्रम, प्रेमाश्रम आदि की स्थापना, पतित पात्रों में भी उदात्त तत्वों का समावेश कराकर उन्हें खुद सुधरने देना, खल-नायकों का भी हृदय-परिवर्तन कराकर उन्हें सही मार्ग में लाना आदि सब इस भावना की उपज है।

प्रेमचंद एक सजग कलाकार थे और समाज के हरेक स्पन्दन को वे भली-भाँति समझते थे। वे अपने युग से पूर्ण रूप से परिचित थे और समाज में घटित नई गतिविधियों से अवगत भी। गाँवों में महाजन, जमींदार और किसान - इन

---

1. "He condemned the disintegrating orthodox values and the oncoming materialistic values - both. Out of the prevailing darkness of Indian society, he brought forth the light of the basic human ideals of conduct which had been established by Indian seers and philosophers - Dr. Ram Darsh Misra - Modern Hindi Fiction - p.97.

तीनों की संस्कृति में आपस में टकराहट हो रही थी । इन तीनों के सामाजिक मूल्यों के प्रतिमान अलग-अलग थे । प्रेमचंद के किसान जमींदारों और महाजनों के निष्ठुर शोषण का शिकार है, पर वे रक्त-रंजित मार्ग से क्रांति करने में असमर्थ थे । इसका कारण यह है कि भारतीय किसान भारतीय संस्कृति एवं सामाजिक मूल्य पर आस्था रखने वाले हैं और भारतीय संस्कृति और नैतिक प्रतिमानों के अनुसार रक्तपात से भरा मार्ग स्वीकारना उचित नहीं है । प्रेमचंदजी ने जमींदारों और महाजनों पर भी भारतीय संस्कृति की अमिट छाप के कारण मन-परिवर्तन होते भी दिखाया है । शहरों में मज़दूरों और उद्योगपतियों के बीच संघर्ष होता था और संघर्ष के रास्ते पर आगे बढने पर मज़दूरों की पराजय ही दिखायी है । साथ ही साथ कभी भी उन्होंने पूँजीपतियों का वध किसी से नहीं कराया है ।

भारतीय नारी की दीन-हीन दशा से भली-भाँति परिचित प्रेमचंदजी ने अपनी प्रारंभकालीन रचना से ही नारी-जागरण का समर्थन किया है । वे दहेज को समाज का सबसे बडा शाप मानते थे और नारी संबंधी अधिकांश समस्याओं की जड भी । अतः उन्होंने समाज को इससे बचने की चेतावनी दी है । विधवा विवाह का समर्थन करके विधवा समस्या को भी समाज से उखाड फेंकने का आह्वान दिया है । नारी संबंधी अधिकांश समस्याएं उनकी आर्थिक पराधीनता से संबंधित हैं और प्रेमचंदजी ने अपने उपन्यासों में नारी की आर्थिक स्वतंत्रता पर बल दिया है और उसे पुरुष के समान ही अधिकार दिया है । तत्कालीन मध्यवर्ग की दशा सबसे हीन बन चुकी थी । उन्हें सब प्रकार के सामाजिक प्रतिमानों का पालन करना पडता था । "सामाजिक मूल्यों का सर्वाधिक सचेतता के साथ पालन करने वाला मध्यवर्ग ही होता है । उच्च वर्ग तो सामाजिक मूल्यों की विशेष परवाह नहीं करता ।"[1] मध्यवर्ग की सबसे जटिल समस्या आर्थिक समस्या थी और आर्थिक दशा में सुधार लाने के लिए उन्होंने परिवार के सभी सदस्यों को कमाई करने का सुझाव दिया है । साथ ही झूठी शान के मुखौटे बाहर फेंककर जीवन की वास्तविक भूमि पर उतरने का आह्वान दिया है ।

---

1. डॉ. हरदयाल - साहित्य और सामाजिक मूल्य - पृ: 21.

इसके अलावा धर्म के वास्तविक स्वरूप को उन्होंने समाज के सामने खोलकर दिखाया है और धर्म के ठेकेदारों से बचते ही रहने की चेतावनी समाज को दी है । समाज में स्त्री-पुरुष संबंध को उन्होंने पवित्रता का रंग दिया है । युवा पीढी के नैतिक आचरण भी - जिसे प्रायः उच्च वर्गीय समाज में नकारा जाता है, समाज प्रगति के लिए अनिवार्य माना है । साथ ही पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरणं न करने का सुझाव दिया है ।

आम तौर पर देखने पर ऐसा लगता है कि संपूर्ण प्रेमचंद साहित्य मानव - हित एवं समाज सुधार की भावना से परिपूर्ण है । इसके लिए उन्होंने सामाजिक मूल्यों पर सबसे अधिक जोर दिया है । क्योंकि "साहित्य का सामाजिक मूल्यों के साथ दोहरा संबंध है । एक ओर साहित्य एक स्वच्छ दर्पण बनकर अपने समय के सामाजिक मूल्यों को प्रतिबिंबित करता है, दूसरी ओर वह उनकी मीमांसा करके, उनका संशोधित रूप प्रस्तुत करके, अथवा किन्हीं मूल्यों के प्रतिस्थानापन्न मूल्य प्रस्तुत करके समाज विशेष के सदस्यों को नये सामाजिक मूल्यों के निर्माण की प्रेरणा देता है ।"[1]

वास्तव में प्रचलित सामाजिक मूल्यों को ज्यों का त्यों स्वीकारने का दायित्व साहित्यकार को नहीं है । उन्हें उनकी परीक्षा करनी है । प्रेमचंदजी के संबंध में कहा जाता है कि यदि तुलसीदास के बाद कोई लोकनायक भारत में अवतरित हुआ है तो वह प्रेमचंद ही है । अंधकार में भटकती भारतीय जनता को मशाल दिखाकर नवोत्थान की दिशा की ओर उन्हें अग्रसर कराने वाला मसीहा ही है प्रेमचंदजी ।

---

1. डॉ. हरदयाल - साहित्य और सामाजिक मूल्य - पृः 24.

यथार्थ का अन्वेषण

जीवन के निर्मम यथार्थ को उपन्यासों में अभिव्यक्ति देने वाले हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार श्री प्रेमचंदजी आज भी प्रासंगिक हैं और मार्ग-दर्शक भी । क्योंकि "उन्होंने जिस शोषित, उत्पीडित भारतीय समाज का अपनी रचनाओं में चित्रण किया है, वह आज भी भारतीय समाज का दर्पण है, अतः उनके साहित्य की आज भी प्रासंगिकता बनी हुई है ।"[1] हिन्दी उपन्यास को काल्पनिकता के चंगुल से छुडाकर उसे जीवन की वास्तविक भावभूमि पर खडा करने का श्रेय प्रेमचंदजी को ही प्राप्त है । जीवन के यथार्थ के प्रति तटस्थ रहकर उन्होंने तत्कालीन समाज की निर्मम झाँकी हमारे सामने प्रस्तुत की है । "यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है ।"[2] प्रेमचंदजी प्रारंभ से ही इस जीवन-यथार्थ को समझने एवं परखने के प्रयत्न में संलग्न थे । उनके प्रारंभिक उपन्यासों से लेकर अंतिम उपन्यास तक इसी खोज का दस्तावेज है । आरंभ में उन्हें ऐसा लगा था कि यथार्थवाद स्तुत्य है, पर नग्न यथार्थ को घृणित ही माना जा सकता है । इसलिए अपनी प्रारंभिक रचनाओं में कहीं भी उन्होंने अति-यथार्थ को अभिव्यक्ति नहीं दी है । जीवन यथार्थ से अवगत एवं परिचित होने पर भी उन्हें वैसा ही चित्रण करना वे अनुचित मानते थे और उस यथार्थ को भी किसी न किसी आवरण के अंदर ही प्रस्तुत करना चाहते थे । शायद उनकी प्रारंभिक रचनाओं का आदर्शवादी रंग इस विचारधारा का फल है । लेकिन अंतिम उपन्यासों तक पहुँचते-पहुँचते उनकी इस विचारधारा में काफी परिवर्तन आ जाता है । वे घोर यथार्थवादी बन जाते हैं । अंतिम उपन्यास गोदान में होरी के जीवन में घटित घटनाओं को उन्होंने खुलकर चित्रण किया है और भारतीय किसानों की घोर विवशता को अभिव्यक्ति दी है । होरी जैसे भारतीय किसान संघर्ष के द्वारा भी अपने आपको शोषण के निष्ठुर

---

1. डॉ. भक्तरात शर्मा - प्रेमचंद और लेखक - पृः 79.
2. प्रेमचंद-कुछ विचार - पृः 49.

हाथों से बचा नहीं सकते थे । होरी जैसे कृषकों के जीवन में सहायता पहुँचाने न कोई धार्मिक आचार्य आता है न कोई समाज सुधारक । इसमें गरीब किसानों की रक्षा के लिए किसी भी व्यक्ति का मन परिवर्तन भी न दिखाया गया है । भारतीय संस्कृति में पले एवं पाश्चात्य सांस्कृतिक नवोत्थान से अछूते भारतीय किसान आजीवन ऐसा ही दारुण जीवन बितायेगा और अंत में अपनी सारी अरमानों को मिट्टी में मिलाकर खुनी सडक पर गिरकर दम तोड देगा - यह एक हृदयभेदक सच्चाई है । इसे सुधारने के उपलक्ष्य में यदि किसी आदर्शवान व्यक्ति का आविर्भाव चित्रित करें तो वह कृत्रिम एवं खोखला ही होगा । "प्रेमचंद की रचनात्मक प्रतिभा का चरमोत्कर्ष उनके अन्तिम उपन्यास गोदान में द्रष्टव्य है । अप्रायोगिक आदर्शों, अपरीक्षित सिद्धान्तों तथा अर्ध परीक्षित वादों से अपने आपको संबद्ध रखने के कारण उनके पूर्व-लिखित उपन्यासों में जो विफलताएँ या दुर्बलताएं प्रकट हुई थीं, उन सबसे बहुत कुछ मुक्त होकर वे यहाँ जीवन-मात्र को व्यंजित करने वाली यथार्थवादी कला के राजपथ से अग्रसर होते दीखते है ।"[1] इस उपन्यास में पूर्ण रूप से यथार्थ जीवन की झाँकी हम देखते है । किसी आदर्श की स्थापना या नैतिक या मानसिक परिवर्तन की सृष्टि के लिए पात्रों को इसमें मोडा नहीं है । होरी-पुत्र गोबर भी किसी आरोपित आदर्श की पुनःस्थापना के लिए नहीं बनाया गया है । उसका व्यक्तित्व विकास भी सहज स्वाभाविक रूप से दिखाया गया है । गाँव से शहर जाकर मज़दूर बनता है और अपने अधिकारों के लिए दल द्वारा क्रांति करने पर भी वह पराजित ही रह जाता है । संघर्ष में गोबर आहत हो जाता है और क्रांति के फलस्वरूप जिस मिल में वह काम करता था, उसका भी सर्वनाश हो जाता है । यहाँ प्रेमचंदजी यह बात देना चाहते है कि समाजवादी या साम्यवादी विचारधारा भी मानव कल्याण के लिए सब कुछ नहीं है, उसकी भी सीमाएं होती हैं । और क्रांति का समर्थन करने को भी वे असमर्थ थे । इसलिए ही गोबर को क्रांति से आहत दिखाया गया है । गोबर जीवन की सुविधाओं को क्रांति द्वारा पाना चाहता था, पर असफल ही रह जाता है ।

---

1. डॉ. गणेशन - हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन - पृ: 57.

लगता है कि प्रेमचंदजी प्रगतिवादी या साम्यवादी विचारधाराओं की सीमाओं से परिचित थे। और इस उपन्यास में गाँधीवादी विचारधाराओं को भी समाज-कल्याण के लिए सब-कुछ नहीं माना गया है। इससे भी उनकी आस्था उठ गयी थी। "अंतिम उपन्यास यह भी दिखाता है कि अब गरीबों और पद-दलितों की दशा में सुधार लाने के लिए गाँधीवादी मार्ग से भी उनका मोहभंग हो गया था। ईश्वर और उनके न्याय से भी वह शंकालू थे। अब वे अन्याय से खुलकर लडना चाहते थे और अंत में उसे उखाड़ फेंकना भी। "बर्बर जानवरों से घिरे हुए व्यक्ति को खुद शस्त्र लेना ही होगा, क्योंकि अपने आपको उनका एक शिकार बना देना भक्ति का नहीं, मूर्खता का लक्षण है।"[1] गोदान का पूर्ण अध्ययन करने पर हमें ऐसा लगता है कि होरी के चरित्र द्वारा प्रेमचंदजी मानवतावादी आदर्शों की पुनः स्थापना करने के लिए प्रयत्नरत हैं। थोडी बहुत कमियों के होने पर भी होरी हमेशा मानवतावादी आदर्शों - जैसे सेवा, दया, करुणा, त्याग, आदि सद्गुणों के अनुसार ही जीवन बिताता है। अपनी विवशता में भी होरी मानव को सर्वोच्च मानता है। परिवार एवं समाज से तिरस्कृत नारियों को वह अपने ही घर में आश्रय देता है, यद्यपि उसे खुद अपने पेट भरने की रोटी भी हाजिर न हो।

इसप्रकार प्रेमचंदजी के सम्पूर्ण उपन्यास का अध्ययन करने पर हमें यह मालूम हो जाता है कि प्रारंभ से ही प्रेमचंदजी जीवन-यथार्थों को खोजते रहे हैं और अन्तिम उपन्यास गोदान तक पहुँचने पर वे आदर्शोन्मुख न रहकर जीवन के निर्मम यथार्थ का स्पष्ट चित्रण करने लगे थे। समाजवादी, साम्यवादी या गाँधीवादी विचारधाराओं से भी उनकी आस्था उड गई थी। प्रारंभिक उपन्यासों से लेकर अन्तिम उपन्यास गोदान तक जीवन-यथार्थ के अन्वेषण की एक यात्रा ही हम देखते है और इसकी चरम परिणति गोदान में अभिव्यक्त होती है।

---

1. The last novel also shows that by this time he was disillussioned about the Gandhian ways to improve the lot of the poor and the down-trodden. He was sceptical about God and his justice. He now wanted injustice to be fought tooth and nail and finally iradicated. "Sorrounded by beastly creatures one has to arm oneself, for, to allow oneself to be made a prey is a mark not of piety, but of stupidity". Dr.Nagendra - Premchand - An Anthology - p.6.

परिवर्तन का आह्वान

प्रेमचंद का मूल्यांकन करते समय परिवर्तन की दिशा में किया गया उनका योगदान हमेशा चर्चा का विषय बन जाता है । उनकी रचना की अन्तर्धारा परिवर्तन के आह्वान से जुडी हुई रहती है । सामाजिक जडता से उद्धार की नई चेतना को अंकुरित करना ही उस अन्तर्धारा का मूलभूत लक्ष्य रहा है । जडता की पत्थरीली जमीन को तोडकर परिवर्तन के अंकुर को निकालना कोई साधारण काम नहीं है । इसके लिए उन्हें अनेक प्रयोग करना पडा है । यथार्थ की पत्थरीली जमीन को तोडने के लिए पहले उन्होंने आदर्शवाद का प्रयोग किया और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का साहित्य में प्रवर्तन किया । इससे वाँछित परिणाम जब दिखाई न देने लगा तो उन्होंने मानसिक परिवर्तन को अपनाया । यह भी जब असफल निकला, तो क्रांति के प्रहार से पथराये हुए यथार्थ को तोडना चाहा । लेकिन वह खुद जानते थे कि क्रांति का प्रहार पत्थर को तोडने के साथ-साथ प्रहार करने वाले पर भी वार कर सकता है । गोबर के द्वारा क्रांति और क्रांति का परिणाम दिखाकर उन्होंने पाठकों के लिए यह सोचने के लिए बाध्य किया है ।

असीम परिवर्तन लालसा का उद्बोधक प्रेमचंद इन्हीं प्रयोगों से यह सिद्ध करते हैं कि उनका मस्तिष्क हमेशा परिवर्तन क वैचारिक पक्षों को भी स्वीकारने वाला रहा है । और सामाजिक क्षेत्र में परिवर्तन का आह्वान सुनाना उनका लक्ष्य रहा है । विधवा के प्रति सहानुभूति एवं सुरक्षा, वेश्या का पुनर्वास, किसानों की एवं मज़दूरों की शोषण से मुक्ति इन परिवर्तनों के आह्वान को कार्यान्वयन के क्षेत्र तक ले जाने वाले राजमार्ग लगेते है । लेखन के माध्यम से पाठकों की प्रतिबद्धता को जगाना और लेखक की वैचारिक प्रतिक्रियाओं को समझने के लिए बाध्य करना इस परिवर्तन को उभारने का स्वाभाविक कार्य था । लगता है कि कहानी कह डालने की अपेक्षा जिन्दगी की कटुता को समझाकर जीवन की दुर्दशा का निवारण करना ही

उनका ध्येय रहा है । साथ ही साहित्य में सर्जनात्मकता को प्रतिबद्धता के साथ जोडकर परिवर्तन को रचना का लक्ष्य मानकर चलने वाला प्रेमचंद जैसे साहित्यकार बहुत कम ही दिखाई पडते हैं । प्रेमचंद के परिवर्तन का आह्वान आदर्शवाद, गाँधीवाद या मार्क्सवाद तक सीमित न रहकर उस मानवतावाद की ओर उन्मुख होता है जो मानव मात्र के कल्याण के लिए ही किया जाने वाला है ।

तीसरा अध्याय

समसामयिकता और प्रेमचंद की दृष्टि

साहित्यिक क्षेत्र में समसामयिकता का अर्थ समय के समान्तर लिखा जाने वाला साहित्य से है जिसमें समय-बोध उभर कर स्पष्ट हुआ हो । किसी भी रचना को प्रासंगिक कहने के लिए यह अत्यंत वाँच्छनीय है कि उसमें अतीत का गौरव, वर्तमान का जीवंत यथार्थ एवं भविष्य की आकांक्षाएं संदर्भित हो । समसामयिकबोध के बिना वर्तमान का जीवंत यथार्थ प्रस्तुत करना लेखक के लिए असंभव है और भविष्य की संभावनाओं या आकांक्षाओं का निर्धारण भी इसी समसामयिकता पर ही निर्भर रहतो है । अतीत के मोह से मुक्त होकर वर्तमान में जीने का आग्रह और वर्तमान क्षण की अवधारणा ही साहित्य में समसामयिकता है । "जिस जगत में हम साँस लेते है, जिस परिवेश में हम जीवित रहेते है, उसके सुःख-दुःख, आकर्षण-विकर्षण, तनाव को चित्रित करने वाला साहित्य या साहित्य-विधा समसामयिक है ।"[1]

प्रेमचंदजी की रचनाओं में समसामयिक बोध अपनी संपूर्णता के साथ उभर आया है क्योंकि उसमें उस युग की या उस समय की हर स्पन्दनों को सफल अभिव्यक्ति मिली है । जिस परिवेश में वे साँस लेते थे, उसके सभी दुःख-दर्द को, तनाव-टूटन को उन्होंने अपनी रचनाओं में चित्रित किया है । विश्रृंखलित समाज एवं अंतर्द्वन्द्वों से पीडित गरीब मानव- इन दोनों की तत्कालीन वास्तविक स्थिति से उनकी रचनाओं द्वारा हम परिचित हो जाते हैं ।

किसी भी रचना को समसामयिक हम तभी मान सकते है जब वह वर्तमान युग की समस्याओं से संबंधित हो । तभी उसमें कला-मूल्य एवं उपयोगिता का सम्मिश्रण होता है । जो रचना मूलतः प्रासंगिक या समसामयिक है, उसमें

---

1. डॉ. ज्ञानवती अरोडा, समसामयिक हिन्दी कहानी में बदलते पारिवारिक संबंध - पृः 9.

तत्कालीन समाज की राष्ट्रीय, सामाजिक एवं जातीय समस्याओं का ज्वलंत चित्र अवश्य उपलब्ध होता है । प्रेमचंद की प्रासंगिकता हम इस बात से स्वीकार करते है कि उनकी रचनाओं में विशेषकर उनके उपन्यासों में तत्कालीन समसामयिक समस्याओं को अभिव्यक्ति अपनी सारी विविधताओं के साथ हुई है । समाज की ज्वलंत सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं जातीय समस्याओं की झाँकी उनके उपन्यासों में मिलती है और उनका मानवतापूर्ण समाधान भी । "चाहे अछूत वर्ग की समस्या हो या असमान विवाह, जाति-भेद, वेश्या-जीवन, साम्प्रदायिकता आदि की समस्या हो, विभिन्न पात्रों या वर्गों की पीडा को प्रस्तुत करने के साथ-साथ प्रेमचंद यह सकारात्मक पक्ष भी उभारते हैं कि समाज की व्यापक समानता एवं एकता के लिए पारस्परिक सहनशीलता, सहानुभूति, मानवीय उदारता और सामान्य प्रगतिशील दृष्टि का होना नितांत आवश्यक है ।"[1] प्रेमचंद की दृष्टि को भली-भाँति समझने के लिए इन समस्याओं का विश्लेषण करना अनिवार्य बन जाता है ।

समसामयिक समस्याएं

समाज में व्यक्ति को समष्टिगत या व्यष्टिगत समस्याओं के कारण अंतर्द्वन्द्वों से गुजरना पडता है । व्यक्ति मूलत: स्वार्थी है जिसके कारण समाज में अमीर-गरीब, शासक-शासित, शोषक-शोषित आदि श्रेणी-विभाजन होता है । इन वर्गों के बीच अक्सर संघर्ष चलता रहता है - अधिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए और जीवन की अनिवार्य सुविधाओं के लिए । प्रेमचंद युगीन समाज की सबसे भीषण समस्या शोषण की समस्या थी जो न केवल राजनैतिक थी, वरन् सामाजिक, धार्मिक आदि स्तरों पर भी व्याप्त थी ।

---

१. डॉ. राजकुमार शर्मा - प्रेमचंद और यथार्थवादी परंपरा - पृ: 75.

शोषण की समस्या

आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कलाकार प्रेमचंदजी ने अपनी रचनाओं में समाज के अल्प-संख्यक शोषकों द्वारा शक्ति, साधन एवं व्यवस्था के सहारे बहु-संख्यक शोषितों पर किये जाने वाले शोषण एवं अत्याचारों को यथार्थवादी दृष्टि से अभिव्यक्ति दी है । समाज में यह प्रवृत्ति पहले से ही विद्यमान थी, पर अंग्रेजों ने इस शोषण को और भी तीक्ष्ण बना दिया था । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उन्होंने यहाँ के आर्थिक ढाँचे को, विशेषकर स्थानीय उद्योगों को चकनाचूर कर दिया । "अंग्रेजों ने यह अनुमान लगा लिया था कि स्थानीय उद्योग नष्ट किये बिना वे अपने व्यापार की उन्नति नहीं कर सकते और भारत को लंबे समय तक राजनीतिक - आर्थिक उपनिवेश नहीं बनाये रख सकते ।"[1] अपने शासन को सुगम बनाये रखने के लिए उन्हें यह आवश्यक था कि शोषक अमीरों को अपने ही पक्ष में लें । अंग्रेज़ों द्वारा निर्धारित नीतियाँ अक्सर आम जनता की भलाई के लिए न होकर शोषक धनी वर्ग को अपने ही वश में कर लेने के लिए होती थी ।

समाज का वर्गों के आधार पर विभाजन हो गया था जिससे अमीरों को गरीबों पर शोषण करने का अधिकार भी सहज ही प्राप्त हो गया । सरकारी सत्ता भी इस शोषण को बढावा दे रही थी । अंग्रेज लोग अपनी इस नीति को यहीं बने रहने के लिए इस नीति के आधार पर समाज में फूट भी डालते रहे । इससे समाज में वर्ग-संघर्ष पैदा होता था जिससे समाज में बची हुई एकता की भावना को भी क्षति पहुँचती रही ।

विदेशी सरकार यहाँ धर्म एवं जाति प्रथा को बढावा दे रही थी क्योंकि इससे भी जनता में फूट डाला जा सकता था । धर्म का वास्तविक रूप तिरोहित हो गया था और शोषण का एक माध्यम मात्र रह गया था । जाति प्रथा को बढावा मिलने से समाज उच्च जाति के लोग एवं निम्न जाति के लोगों में बंट गया था ।

---

1. डॉ. सुरेश धींगडा - प्रेमचंद की आर्थिक भूमिका - पृ: 12.

इस प्रकार जाति के आधार पर भी गरीबों का शोषण होने लगा । इससे उत्पन्न वर्ण-व्यवस्था भी शोषण का ही दूसरा रूप था । इन सामाजिक अन्यायों को सत्ता ही प्रश्रय दे रही थी । "हिन्दु और मुसलमानों के बीच भेद की दीवाल खडी करने का काम जितनी कुशलता से दोनों तबकों के फिरकापरस्त नहीं कर पाए, वह काम अंग्रेज़ शासक पूरी कुशलता से संपन्न करते हैं । राजनीतिक, सामाजिक सांस्कृतिक सभी स्तरों पर वे हिन्दु मुसलमानों के बने और चले आते हुए एकात्म पर आघात करते हैं ।"[1] उच्च जाति के लोगों के पास सत्ता थी जिससे निम्न जाति के लोगों पर शोषण-चक्र चलाना उनके लिए सुगम बन गया था ।

समाज का शोषित वर्ग प्रायः धर्म-भीरू, सत्ता-भीरू एवं अशिक्षित होता था और शोषक उच्च वर्ग और सरकार-दोनों इससे फायदा उठाते थे । समाज के शिक्षित व्यक्तियों द्वारा अशिक्षितों का निर्मम शोषण हो रहा था । सरकार भी अपनी शोषण-नीति को बनाये रखने के लिए यहाँ शिक्षा का प्रचार नहीं चाहती थी । जनता की अशिक्षा से उत्पन्न धार्मिक रूढियों एवं अंध-विश्वासों से भी शोषक समाज फायदा उठाता था । पर ध्यान देने योग्य बात यह थी कि समाज में मुख्य रूप से यह विभाजन धन के आधार पर ही, होता था । इससे पूर्ण रूप से अवगत प्रेमचंदजी राष्ट्रीय मुक्ति के संदर्भ में आर्थिक एवं सामाजिक मुक्ति को भी समान रूप से प्रासंगिक मानते थे । "राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन उनके लिए सदैव ही आर्थिक सामाजिक मुक्ति के प्रसंग में ही प्रासंगिक रहा है । और इसी बिन्दु पर उनके विचार राष्ट्रीय आन्दोलन के नेतावर्ग से टकराए भी है ।"[2]

प्रेमचंद युगीन भारतीय नारी भी चारों तरफ से शोषण का शिकार बनी हुई थी । समाज में नारी को शिक्षा से वंचित कर दिया था और अशिक्षित नारी को अक्सर शोषण के पंजों में फँसना पडता था । समाज में हमेशा पुरुष जाति का ही आधिपत्य था और नारी को एक दासी का रूप दिया गया था । उन पर

---

1. शिवकुमार मिश्र - प्रेमचंद - विरासत का सवाल - पृः 41.
2. वही - पृः 4.

दोहरी शोषण-नीति चल रही थी । परिवार के अन्दर उसे गुलामी करनी पडती थी और जब वह घर से समाज में आती थी, तब केवल व्यापार की वस्तु मात्र रह जाती है । परिवार के अंदर गुलामी करने वाली नारी पत्नी है, पर पति की मृत्यु हो जाने पर वह विधवा बन जाती है । विधवा अक्सर पारिवारिक स्तर पर शोषित है और जब अपनी विवशता के कारण समाज में आकर देह बेचती है, तब वह वेश्या बन जाती है । नारी पर सामाजिक स्तर पर होने वाले शोषण का जीवंत नमूना है वेश्या । नारी पर होने वाले इन अन्यायों के प्रति समाज, धर्म एवं सत्ता-तीनों आँखें मूँद लेते थे और नारी की दशा दिन-प्रतिदिन बिगडती जा रही थी ।

देहज की समस्या

शिक्षित एवं अशिक्षित समाज में समान रूप से व्याप्त एक सामाजिक समस्या है दहेज । प्रेमचंद युग में यह सामाजिक कुरीति अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त हो चुकी थी । समाज को मगरमच्छ की भाँति निगलने वाली इस सामाजिक कुरीति से समाज को बचाने के लिए न कोई कदम सरकार की तरफ से उठाया गया और न धर्म या समाज के द्वारा भी । सत्ता को बनाये रखने में सहायक उच्चवर्ग समाज से इस कुरीति को हटाना नहीं चाहता था । "एक ओर जहाँ समाज में निर्धनता है, वहाँ दूसरी ओर धन सम्पन्न वर्ग अपनी विलासिता की पूर्ति के लिए ऐसे घृणित तथा कुत्सित व्यवसाय को प्रोत्साहित करता है ।"[1] और इससे प्रेरित होकर सरकार भी इस भीषण समस्या से आँखें बन्द कर लेती थी । प्रेमचंदजी की रचनाओं में समाज में व्याप्त इस कुरीति को अपनी सँवागीणता के साथ अभिव्यक्ति मिली है । प्रेमचंद यह जानते थे कि समाज में व्याप्त अधिकांश नारी समस्याओं का मूल-जड़ इसी में ही ढूँढा जा सकता है ।

---

1. डॉ. तिलकराज - प्रेमचंद और नानक सिंह के उपन्यास - पृ: 123.

कन्या के जन्म होते ही भारतीय परिवार में विशेषकर माता-पिता के मन में सहज रूप से यह अन्तर्द्वन्द्व भी पैदा हो जाता है कि इसकी शादी के लिए दहेज कहाँ से जुटाएँ । दहेज जुटाने के लिए अक्सर माँ-बाप गलत रास्ते को अपनाने को विवश थे । और कभी-कभी "सेवासदन" के कृष्णचन्द की तरह अपनी जिंदगी को भी बर्बाद कर डालता था। दहेज के अभाव में कन्या को अनमेल व्यक्तियों के गले मढ़ देने को माँ-बाप विवश बन जाते थे । वास्तव में इस दहेज-प्रथा को परिवार के अन्दर घटित होने वाली एक सम्मानित व्यापार मानने में कोई आपत्ति नहीं है ।

कुपात्रों के साथ विवाहित हो जाने पर कन्या का जीवन आत्म-संघर्ष एवं अंतर्द्वन्द्वों से गुजरने लगता है । और "निर्मला" की निर्मला की तरह अनमेल विवाह के कारण जीवन-भर मानसिक-कुंठाओं से व्यथित होने को विवश होना पडता है । अनमेल विवाह में पति अक्सर बूढे व्यक्ति होंगे और उसकी मृत्यु हो जाने पर कन्या एक विधवा का अभिशाप्त जीवन बिताने को विवश बन जाती है । वास्तव में विधवा समाज के सबसे उत्पीडित वर्ग है जिसे न तो परिवार वाले चाहते है और न समाज । विधवा अपने ही घर में दासी बनकर गुलामी करके अपनी जीविका कमाती है । परिवार में अपनी विवशता बढ जाने पर वह परिवार छोडकर समाज में आ जाती है और वहाँ एक वेश्या का पतित जीवन बिताने को विवश बन जाती है । परिवार के अन्दर गुलामी करने पर वह दासी बनती है और परिवार के बाहर समाज में आकर गुलामी करने पर वेश्या । परिवार के अंदर उसे अपना श्रम बेचना पडता है जब कि समाज में अपना शरीर ।

इन सभी सामाजिक समस्याओं के मूल में दहेज-प्रथा ही काम करती है । दहेज के अभाव में अनमेल विवाह की समस्या आ जाती है और अनमेल विवाह से विधवा समस्या और उससे वेश्या समस्या भी उपजती है । बूढे व्यक्ति न होने पर भी विकृत मानसिकता के व्यक्ति के साथ विवाहित होने से "सेवासदन" की सुमन

वेश्या बन जाती है । "वेश्या-समस्या विधवा नारी से ही संबद्ध नहीं है अपितु इसके साथ ही अनमेल विवाह से उत्पन्न मनोवैज्ञानिक असंगतियाँ भी अनुस्यूत हैं ।"[1] पर सूक्ष्मता से देखने पर इसका भी मूल कारण दहेज-समस्या ही है ।

इस समस्या की भीषणता से अवगत होने पर भी सामाजिक तौर पर इसे सुधारने का कोई प्रयास नहीं किया गया था । इससे समाज में नारी की स्थिति दिन-प्रतिदिन गिरती जा रही थी ।

किसानों का शोषण

प्रेमचंद युगीन समाज में सामाजिक अन्याय, अत्याचार एवं शोषण का सबसे बडा शिकार था किसान वर्ग । प्रेमचंदजी का समय भारत में सामंतवाद का पूँजीवाद में बदलने का समय था । सामंतवादी व्यवस्था के कारण किसानों की स्थिति अत्यंत दारुण बन चुकी थी । किसान अपने को किसान कहने के बजाय मज़दूर कहना बहत्तर समझने लगे थे । प्रेमचंदजी के उपन्यासों और कहानियों में भारतीय किसान की इस दीन-हीन अवस्था की सफल अभिव्यक्ति हम देख सकते हैं ।

भारतीय किसान दिन-रात अश्रांत परिश्रम करते थे, पर उन्हें कभी-भी अपने पेट-भर की रोटी तक नहीं मिलती थी । जमींदारों और साहुकारों के निष्ठुर हाथों से बचने के लिए वे तडप उठते थे, पर कभी-भी बच नहीं सकते थे । किसान अपनी ज़मीन खोकर मज़दूर मात्र रह गये थे । सत्ता हमेशा जमींदारों और साहुकारों के साथ होती थी जिसके कारण भारतीय किसान इस अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाने में भी असमर्थ थे । जीवन-भर की गुलामी, दारिद्र्य एवं आत्म-संघर्ष के कारण उनकी मानसिकता भी बदल गयी थी । "पूस की रात" शीर्षक कहानी में खेत में चरते जानवरों को भगाने में हल्कू की तटस्थता का मूल कारण भी जमींदारी शोषण ही है ।

---

1. डॉ. तिलकराज - प्रेमचंद और नानक सिंह के उपन्यास - पृ: 123.

मानव-मूल्यों का पूँजीवाद में पहुँचकर क्या परिणाम हो सकता है, इसे "कफन" के घीसू और माधव में हम देखते हैं । महाजनी सभ्यता इतनी प्रचंड होती है कि स्नेह, सौजन्य एवं सच्चाई का पुतला मनुष्य, दया-ममता से शून्य, जड़ यंत्र मात्र रह जाता है । घीसू और माधव दोनों किसान थे और अपनी ज़मीन खोकर मज़दूर बन गये थे । मज़दूर से वे कामचोर बनते है और अंत में उपजीवि भी । घीसू और माधव की इस कायापलट निष्ठुर सामाजिक व्यवस्था के कारण हुई है । और आगे भी उपजीवि बनकर रहने की कामना वे दोनों करते है क्योंकि उन्हें यह मालूम है कि हल्कू जैसे हाडतोड परिश्रम करने वाले किसानों की स्थिति उनसे बहत्तर नहीं है - क्योंकि उनके परिश्रम पर जीने वाला और कोई होता है । "कफन" के घीसू और माधव के द्वारा प्रेमचंदजी ने यह साफ दिखला दिया है कि समाज का "यथार्थ" बदलता नहीं है, मूल्य और संबंध बदलते हैं ।

किसानों की वास्तविक दशा का इससे भी निर्मम उद्घाटन "गोदान" के होरी में हुआ है । आजीवन अथक परिश्रम करने पर भी किसान से मज़दूर बनने को और बेगारी करने को वह विवश है । अपनी विवशता उसे यहाँ तक पहुँचाती है कि अपनी बेटी को दो सौ रुपये पर बेच डालने को भी वह मज़बूर है । झुलसती धूप में दम तोडकर गिर पडते समय भी उनके मन में एक गाय पालने की मामूली अरमान बनी रहती है । वास्तव में होरी की विवशता और मृत्यु आम भारतीय किसानों की बेबसी एवं मोह-भंग का दारुण चीत्कार है ।

प्रेमचंदजी के अन्य उपन्यासों में भी भारतीय किसान की इस दर्दनाक स्थिति की झाँकी अंकित है । उनके सभी उपन्यासों में भारतीय किसान-जीवन की विडंबनात्मक स्थिति की ओर संकेत है । सामंतवाद एवं जमींदारी प्रथा के कारण ही किसानों की यह स्थिति हो रही थी । भारतीय किसान तब खेती छोडकर शहर में जाकर मज़दूर बन रहे थे । विकल सामाजिक व्यवस्था एवं अवैज्ञानिकता के कारण खेती भी ह्रासोन्मुख थी ।

किसानों की इस दीन-हीन अवस्था से उसे छुडाने का या जमींदारों एवं महाजनों के कराल हाथों से उसे बचाने का कोई प्रयास नहीं किया गया था । अंग्रेज़ सरकार भी किसानों के शोषण को बढावा दे रही थी । इसके अलावा धर्म भी जमींदारों और महाजनों के पक्ष लेकर किसानों के शोषण को बढावा दे रही थी । सरकारी नौकर भी चारों तरफ से शोषित, निर्धन भारतीय किसान को ओर अधिक चूसने में लगे हुए थे ।

जमींदारी की भयानकता

प्रेमचंद युगीन समाज का सबसे बडा शोषक वर्ग था जमींदार वर्ग । यह वर्ग समाज को अपने कराल हाथों में बन्द करके राक्षसों की तरह उसका खून चूस रहा था । सत्ता की शोषण-नीति को वह गाँवों में कार्यान्वित करता था। प्रेमचंदजी ने अपने उपन्यासों और कहानियों में जमींदारी व्यवस्था की भयानकता को अपनी सारी विशेषताओं के साथ अंकित किया है । वास्तव में किसान की दिन-प्रतिदिन बिगडती दीन-हीन दशा का मुख्य कारण यहाँ मौजूद जमींदारी-प्रथा ही मानी जा सकती है ।

अशिक्षित, गरीब किसानों के खून चूसकर ही यह वर्ग इतने मोटे हुए थे । अपनी स्वार्थ-वृत्ति के कारण वे अब भी अपनी शोषण-वृत्ति को जारी रखे थे । जमींदारों के इस निष्ठुर शोषण के कई आयाम थे । सत्ता एवं शासन उनके पास होने की वजह से किसानों की भूमि हडपना, उस पर कब्जा करना उनके लिये आसान था । भूमि-हीन किसान जीवन-भर जमींदारों के लिए काम करने को विवश बन जाता था । किसानों की इस बेबसी से अवगत जमींदार बेगारी कराकर भी उसका निर्मम शोषण कर रहा था। दिन-रात खेत में काम करने पर भी उसे अपनी पेट-भर की रोटी तक हासिल न होती थी ।

पर इस दीन-हीन दशा के विरुद्ध संघर्ष करने में भी भारतीय किसान असमर्थ थे क्योंकि सत्ताधारी जमींदार उसे आसानी से दबाते थे । जिन किसानों के पास भूमि होती थी, उनकी स्थिति भी भूमि-हीन किसानों से बहतर नहीं थी । महाजन और जमींदार आकर उनके खलिहान को साफ कर देते थे और उन्हें भी जीविका के लिए खाली हाथ के सिवा और कुछ भी नहीं बचता था । इस निष्ठुर यथार्थ से अवगत भारतीय किसान की मानसिकता "पूस की रात" शीर्षक कहानी में स्पष्ट उभर आयी है । हल्कू यह जानता है कि अपनी खेती को जानवरों से बचाने पर भी उसकी दशा में कोई परिवर्तन नहीं आयेगी । वह जमींदार और महाजन की भेंट चढ जायेगा । अतः वह अपना खेत बचाने से भी तटस्थ है ।

किसानों के निष्ठुर शोषण करने वाले इस वर्ग को सामाजिक प्रतिष्ठा भी सबसे अधिक मिलती थी । समाज के इस उच्च वर्ग शोषकों पर अंकुश लगाने वाला कोई नहीं था । वे अपनी मनमानी ढंग से किसानों के शोषण करते थे और गरीब किसान और निर्धन होते जा रहे थे । किसानों में गाँव की खेती छोडकर शहरों में जाकर मज़दूर बनने की प्रवृत्ति भी दिखाई पडती है जिसका मूल कारण जमींदारों के शोषण ही माना जा सकता है । प्रेमचंदजी के उपन्यासों और कहानियों में जमींदारों की इस भयानक शोषण-वृत्ति की खुलकर अभिव्यक्ति हुई है ।

यद्यपि प्रेमचंदजी ने तत्कालीन सभी समस्याओं पर अपनी लेखनी चलाई है और उनकी तहों का संस्पर्श करने का प्रयास किया है, तो भी उन समस्याओं को समाज से उखाड फेंकने का क्रांतिकारी आह्वान देने से वे डरते हैं । वास्तव में संस्कृति-जन्य यह भयवाद एक युगीन बन्धन था । और इस बन्धन को तोड डालने का साहस प्रेमचंद में नहीं था । "प्रेमचंद में तालस्ताय का सा एक भयवाद अन्त तक बना रहा । वह भय संस्कारों पर आधारित था । प्रेमचंद ने खुलकर कहीं भी क्रांति करने की घोषणा नहीं की । वास्तव में यह युग के बन्धन थे ।"[1]

---

1. राँगेय राघव - प्रेमचंद और गोर्की - संपादिका-शचीरानी गुर्टू - पृः 453.

उपन्यासकार प्रेमचंदजी की सफलता इस बात पर आधारित है कि अपनी चारों तरफ के जीवन को भली-भाँति परखने में और उसको प्रस्तुत करने में वे सबके आगे थे। इसलिए समसामयिकता की विविधता अपनी संपूर्ण परिवेश एवं प्रतिक्रियाओं के साथ उनकी रचनाओं में प्रतिबिंबित होती है। एक सीमा तक रचना की जीवंतता को बनाये रखने और मानव की मूलभूत चेतना को समझने में यह दृष्टि अत्यंत सहायक सिद्ध हुई है। किसान किस तरह मज़दूर बनता है और मज़दूर किस तरह शहर की ओर पालायन करता है और वहाँ किस तरह एक नये वर्ग की स्थापना करता है ये सब प्रेमचंद ही समझा सकते हैं। किसान का लूटा जाना और बेसहारा बनना और जीविका के लिए शहरों की गली में पनाह लेना भारतीय समाज के तत्कालीन जीवन के संकट का परिचय देने वाला सत्य है। भारतीय समाज में व्याप्त जीवन के इस संकटबोध को बडी ही स्पष्ट भाषा में कहना युग-चेता साहित्यकार का ही लक्षण माना जा सकता है। परोक्ष रूप में प्रेमचंदजी ने यथार्थ की उस गहराई को आँकने की कोशिश की है जो परिवर्तन की ओर इशारा करती है।

सेवासदन से लेकर गोदान तक के उपन्यासों का विश्लेषण करते समय लगता है कि प्रेमचंदजी की समसामयिकता संबंधी संकल्पना भी समयानुकूल होकर परिवर्तित होती रहे। इसी कारण आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के प्रति उनकी जो दृष्टि थी, वह गोदान तक आते आते परिवर्तित समसामयिकता के धरातल पर प्रतिष्ठित होती है। शोषण के शिकार होरी की मृत्यु यह सूचित करती है कि उस परंपरा का अंत हो गया है जो रूढियों, अन्ध-विश्वासों और सहनशीलता को जीवन का आधार बनाकर जीती रही। वास्तव में उपन्यास के रचनाकाल को ध्यान में रखकर देखा जाय तो यह स्पष्ट होगा कि उस काल में समाज की युवा पीढि में अधिक जोशीली एवं सक्रियकता से युक्त दृष्टि का विधान हो गया था। अंग्रेज़ों के विरुद्ध हिंसा का स्वर मुखरित होने लगा था और यह स्वर उस महास्वर में परिवर्तित होने वाला था जिसके आगे सामंती सभ्यता गिड-गिडाकर गिर सकती थी।

उधर स्त्री के विधवा से वेश्या बनने पर जो आपत्तियाँ उठाई गई हैं वे इस बात की ओर सूचित करती है कि स्त्री के लिए अपने पैरों पर खड़े होने का समय आ गया है । समसामयिक राजनीतिक स्थितियाँ यह दिखाती हैं कि स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने के लिए स्त्रीयों का भी समूह आगे आने लगा था । नारी जागरण की लहर जो धीरे-धीरे समाज में व्याप्त हो रही थी, उसी को अन-देखा करना प्रेमचंद के लिए असंभव था । अतः आगे के उपन्यासों में आधुनिकता को पर्याप्त स्थान देना उचित माना गया जिसका उदाहरण मालती में प्राप्त होता है । यद्यपि मालती को आदर्श माना नहीं गया है तो भी कई मालतियों का समाज में उभर आने की ओर प्रेमचंद अवश्य संकेत करते हैं । जहाँ तक गबन की जालपा का संबंध है वह भी स्त्री के उस चेहरे को व्यक्त करती है जो घूँघट के अंदर बन्द रहकर अपनी इच्छाओं को दबाने के बजाय आधुनिक जीवन की विलासिता की ओर उन्मुख है । इन नारी पात्रों को आदर्श के रूप में प्रस्तुत नहीं करने पर भी यह स्पष्ट होता है कि नारी अब समयानुकूल अपनी आकांक्षाओं को प्रकट करने में किसी के पीछे नहीं है ।

इस प्रकार नारी चेतना को बदलते हुए संदर्भों से जोडकर प्रेमचंदजी ने समयसापेक्षित वास्तविकता को परोक्ष रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । यहीं पर समसामयिकता के बोध से प्रेमचंद प्रभावित दिखाई पडते हैं ।

शहर और गाँव की परिस्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके 'गोदान' में उन्होंने इस समसामयिकता बोध को फिर से मुखरित करने का प्रयास किया है । जमींदारों के शोषण के कारण और पनपते अंध विश्वास के परिणाम से जहाँ एक ओर किसानों की जिंदगी को नारकीय बनता दिखाया है तो दूसरी ओर शहरों में उभर आने वाले कारखानों में मज़दूरों की जिंदगी को उभारने का प्रयास भी किया गया दिखाया है क्योंकि यह वह समय था जब उत्तर भारत के शहरों में साम्यवादी विचारों का प्रस्फुटन हुआ था और जन आन्दोलन की प्रथम भूमिका बाँधी जा रही थी । हडतालें करना और कारखाने पर आग लगाना आदि वही प्रगतिवादी

साम्यवादी चेतना से प्रचलित जन-शक्ति का संहारात्मक एवं संघर्षात्मक स्वरूप को उभारकर कर रखा है । बीच-बीच में दिखाई पडने वाले प्रेम प्रसंगों की चर्चा उस परंपरा की सूचना देती है जहाँ बुर्जुआ समाज की मनोवृत्ति का उद्घाटन हुआ था ।

इस तरह समसामयिकताबोध को, जन-क्रांति को और वर्ग संघर्ष की स्थिति को अपनी प्राथमिक चरण में प्रवेश करके दिखाकर प्रेमचंदजी ने यह सूचित किया है कि उनकी दृष्टि रचना के प्रति दायित्व दिखाती हुई समसामयिक चेतना को अपने अंदर समा लेने में सफल है ।

चौथा अध्याय

प्रेमचन्द के उपन्यासों में सामाजिक प्रतिबद्धता

महान विभूति प्रेमचन्दजी की रचनाएँ अपनी व्यापक दृष्टि एवं विस्तृत परिवेश के कारण देशीयता के संकुचित दायरों को पार कर सार्वभौक बन गयी हैं। उनकी रचनाएँ कालानुबद्ध एवं देशीय वातावरण से आप्लावित तो हैं, पर सम्पूर्ण मानवता के दुःख-दर्द भरे जीवन की वास्तविकताओं को संवहन करने में सक्षम भी हैं। यथार्थवादी कलाकार होने के नाते प्रेमचन्दजी ने सर्वप्रथम समाज की वास्तविकताओं को पहचाना और यथार्थ के माध्यम से ही जन-जीवन में व्याप्त आशा-निराशा, दुःख-दर्द, दमन-उत्पीडन, शोषण एवं मुक्ति संघर्ष को सशक्त वाणी दी। उनकी रचनाओं में विशेषकर उपन्यासों में सम्पूर्ण भारतीय समाज अपनी सारी विभीषिकाओं के साथ उभर आया है। प्रेमचन्दजी समाज में व्याप्त इन विसंगतियों को सुधारकर उसे स्वस्थ बनाना अपना साहित्यिक दायित्व मानते थे। इस कारण हमें यह स्वीकारना पडता है कि अपनी सुधारवादी दृष्टि के कारण उनकी साहित्यिक चेतना हमेशा सामाजिक प्रतिबद्धता की ओर अग्रसर रही है।

लेखन में प्रतिबिंबित दृष्टिकोण

लेखन में हमेशा लेखक की सर्जनात्मक दृष्टि प्रतिबिंबित होती है। लेखक चाहे किसी भी वाद-विशेष का क्यों न हो, वह अपनी विशिष्ट साहित्यिक दृष्टि को पाठक तक पहुँचाना अपना लक्ष्य मानता है। लेखकीय दृष्टि की गहराई के अनुसार रचना की श्रेष्ठता बढती है। जिन रचनाओं में मानव-कल्याण के शाश्वत सत्यों की ओर उन्मुख दृष्टिकोण है, वे ही कालजयी साहित्य बनती हैं। सर्जनात्मक कलाकार के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वह हमेशा किसी न किसी आदर्श या वाद-विशेष की ओर उन्मुख दृष्टिकोण को अपनाये वरन् आत्म-निष्ठ दृष्टि के आधार पर भी रचना संभव है।

प्रेमचंद हिन्दी के एक ऐसे लेखक है जिन्होंने अपनी रचना को किसी न किसी आदर्श या लक्ष्य के समर्थन के लिए प्रस्तुत किया है । आदर्श की ओर उन्मुख इस विशिष्ट लेखकीय दृष्टि के कारण रचना का कलापक्ष अक्सर त्रुटियों का संस्पर्श करता है ।

सामाजिक जीवन की सच्चाई के व्याख्याता होने के नाते उनकी रचनाएँ अक्सर समाज के प्रति प्रतिबद्ध रचनाएँ हैं और उनकी लेखकीय दृष्टि प्रतिबद्धात्मक भी । समाज को अपनी विसंगतियों से छुडाकर उसे स्वस्थ बनाना वे अपनी लेखकीय प्रतिबद्धता मानते थे । समाज को सडी-गली सामाजिक व्यवस्था से, रीति-रिवाजों से, अन्ध-विश्वासों एवं कुरीतियों से मुक्त करके स्वस्थ एवं पवित्र परिवेश प्रदान करना वे अपना दायित्व मानते थे और साहित्य को उसकी प्राप्ति का साधन मात्र स्वीकारते थे । उनकी इस अति-सुधारवादी दृष्टि के कारण उनकी प्रारंभिक रचनाओं में सामाजिक प्रतिबद्धता का भाव-बोध साहित्यिक प्रतिबद्धता के भाव-बोध से कहीं अधिक है । या यों कहा जा सकता है कि कलावादी प्रतिबद्धता को नकारती हुई उनकी प्रारंभिक रचनाएँ सामाजिक प्रतिबद्धता की ओर अग्रसर थीं ।

प्रेमचन्दजी भारतीय संस्कृति एवं आदर्शों पर अनन्य आस्था रखने वाले थे और इसी वजह से साहित्यिक क्षेत्र में उतरने पर भारतीय आदर्शों से प्रेरित एवं प्रभावित होना स्वाभाविक ही था । सब प्रकार की बुराइयों से ग्रस्त भारतीय समाज के सामने एक आदर्श समाज की पुनः स्थापना करना वे अपना फर्ज़ स्वीकारते थे । इसलिए उनकी अधिकांश प्रारंभिक रचनाओं में एक साहित्यकार के रूप में नहीं, एक समाज-सुधारक के रूप में वे हमारे सामने आते हैं । चारों तरफ से पीडित एवं शोषित गरीब भारतीय जनता को शोषकों के निष्ठुर हाथों से मुक्त करने के लिए एक तेज शस्त्र के रूप में उन्होंने अपनी लेखनी चलाई । प्रारंभिक रचनाओं में अभिव्यक्त समस्याओं का आदर्शपरक समाधान यानि वेश्याओं को सुधारने के लिए सेवासदन की स्थापना एवं विधवाओं के लिए विधवाश्रम की स्थापना आदि इस सामाजिक प्रतिबद्धात्मक लेखकीय दृष्टि का ही परिणाम है । इससे रचना के प्रति रचनाकार की प्रतिबद्धता में कहाँ तक असफलता आयी है - यह विचारणीय बात है ।

उनकी प्रारंभिक रचनाओं के संदर्भ में यह स्पष्ट है कि समाज को ग्रसित जडिलताओं से उसे मुक्त करने के लिए वे किसी भी मार्ग को स्वीकार कर सकते हैं । दूसरे शब्दों में समाज के प्रति अपनी प्रतिबद्धात्मक दृष्टि की अभिव्यक्ति के लिए वे अक्सर अपने पात्रों के व्यक्तित्व को अवरुद्ध करते हैं या कथ्य को अपनी सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि के अनुरूप मोडते हैं । कथानक के बीच में ही पात्रों से अकारण आत्म-हत्या कराना या एक अनोखे तौर पर खल-नायकों का मानसिक परिवर्तन दिखाना आदि इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं । अतः हमें यह कहना पडता है कि प्रेमचंदजी की प्रारंभकालीन रचनाओं में समाज के प्रति अपनी प्रतिबद्धता की तीव्रता के कारण रचना की कलावादी प्रतिबद्धता में शिथिलता अवश्य आयी है । यानि प्रारंभिक रचनाओं के संदर्भ में साहित्यिक प्रतिबद्धता को काफी हद तक नकारते हुए सामाजिक प्रतिबद्धता की ओर वे अग्रसर हैं ।

लेकिन अंतिम रचनाओं तक पहुँचते ही उनकी लेखकीय दृष्टि में काफी परिवर्तन आ जाता है । "गोदान" जैसी रचनाओं में सामाजिक एवं साहित्यिक - दोनों प्रतिबद्धता का सफलतापूर्वक निर्वाह करने वाली एक स्वस्थ लेखकीय दृष्टि को अपनाते हुए वे आगे बढते है । जीवन की वास्तविकताओं के प्रति किसी भी आदर्शपरक पूर्वाग्रहपुर्ण दृष्टि को इनमें स्वीकारा नहीं है । यहीं उनकी कला की परकाष्ठा हम देख सकते है । कुल मिलाकर देखने पर जिन रचनाओं में सामाजिक एवं कलावादी प्रतिबद्धता - दोनों समान रूप से विद्यमान नहीं है, वे कमजोर रचनाएं मानी जाती है । कालानुगत दृष्टि को ध्यान में रखकर प्रेमचंदजी की ऐसी रचनाओं पर विचार करते समय ऐसा लगता है कि यह स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है ।

सामाजिक प्रतिबद्धता - प्रेमचन्द के उपन्यासों में

साहित्यकार जिस समाज में जीता है, उस समाज के प्रति उसका जो दायित्य है, उसे हम सामाजिक प्रतिबद्धता की संज्ञा से अभिहित कर सकते हैं । सृजनात्मक रचनाकार जिस समाज में जो रहा है, उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता, क्योंकि उस समाज से ही वह अपनी रचना का कच्चा माल जुटाता है । समाज को हर समस्या से, संघर्ष एवं अन्तर्द्वन्द्व से वह हमेशा प्रभावित रहता है । दूसरे शब्दों में समाज के हर स्पन्दन से वह परिचित रहता है और अपनी रचनाओं के माध्यम से इन स्पन्दनों पर अपनी वैयक्तिक प्रतिक्रिया को व्यक्त करता है । प्रत्येक सर्जनात्मक साहित्यकार इनको अभिव्यक्त किए बिना भी नहीं रह सकता । साहित्यकार अपनी लेखकीय दृष्टि के आधार पर ही इस प्रतिक्रिया को अभिव्यक्ति देता है । यदि साहित्यकार की दृष्टि समाज-हित की भावना से प्रेरित हो और मानवीयता के विरुद्ध न हो, तो उस अभिव्यक्त दृष्टि को या प्रतिक्रिया को हम साहित्यकार की सामाजिक प्रतिबद्धता कह सकते हैं । मानवीयता के प्रति जो प्रतिबद्धता है, उसे नकारते हुए किसी भी सामाजिक प्रतिबद्धता के अस्तित्व को हम स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि सामाजिक प्रतिबद्धता को हमेशा मानवीयता के प्रति जो प्रतिबद्धता है, उसकी ओर उन्मुख होना है । सारांश यह है कि "सहितस्य भावं" की सार्थकता जिन रचनाओं में हुई है, उन्हें हम सामाजिक प्रतिबद्ध लेखन मान सकते हैं । प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में लेखक की इस सामाजिक प्रतिबद्धता का निर्वाह कहाँ तक सफलता से हुआ है, उसे समझने के लिए उनके प्रत्येक उपन्यास का विश्लेषण अनिवार्य है ।

सेवासदन

हिन्दी उपन्यास साहित्य को सर्वप्रथम जीवन की वास्तविकताओं से जोडने वाला यह उपन्यास प्रेमचंदजी की कीर्ति को प्रतिष्ठित करने वाला प्रथम उपन्यास है । समाज के प्रति प्रतिबद्ध कलाकार प्रेमचंदजी ने इसमें समाज में व्याप्त हर समस्या को प्रतिबद्धात्मक दृष्टि की आड़ में खडे होकर चित्रित किया है और

यह साबित किया है कि किस प्रकार आर्थिक एवं राजनैतिक समस्याएं सामाजिक समस्याओं के निर्माण में योगदान देती हैं। इसमें उन्होंने ह्रासोन्मुख रूढ़िग्रस्त भारतीय सामाजिक व्यवस्था का नग्न चित्र हमारे सामने प्रस्तुत किया है और नायिका सुमन के माध्यम से मध्यवर्गीय भारतीय परिवारों में नारी की पराधीनता एवं विवशता को सफल अभिव्यक्ति दी है ।

मध्यवर्गीय नारी का प्रतीक "सुमन" का सामाजिक पतन या यहाँ तक कि उसे वेश्या तक बनाने का दायित्व उस सामाजिक व्यवस्था पर है जिसमें दहेज की कुप्रथा पनपती है । समाज में ऐसी दुर्व्यवस्था या कुरीति को बढावा देने में राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं का भी अवश्य योगदान है । सुमन जैसी वेश्याओं को इस प्रकार के सामाजिक पतन से बचाना और उसे अन्य वेश्याओं को सुधारने के सर्जनात्मक काम में लगाना एवं समाज में नारी की शोषण-ग्रस्त दशा में सुधार लाने के प्रयत्न में संलग्न दिखाना आदि समाज-हित या मानव-हित की बातें प्रेमचंद की सामाजिक प्रतिबद्धता का बेजोड मिसाल है । हीनता-ग्रंथि का शिकार सुमन के पति गजाधर को अंत में मनः परिवर्तन करके दिखाना एवं समाज मंगल के काम में लगे स्वामी गजानंद बनाना आदि भी प्रेमचंद की सामाजिक प्रतिबद्ध दृष्टि का ही परिणाम है । प्रारंभ में पथ-भ्रष्ट हो जाने पर भी शांता के पति सदन को अंत में सामाजिक अन्याय एवं अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करके आदर्श एवं कर्त्तव्य-निष्ठा की ओर अग्रसर होते दिखाना भी प्रेमचंदजी की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का परिचायक है । सामाजिक सुधार में संलग्न पद्मसिंह के चरित्र में भी प्रेमचंदजी की प्रतिबद्धात्मक दृष्टि झलकती है ।

इसमें सम्पूर्ण भारतीय समाज के चित्रण के लिए दारोगा कृष्णचन्द, महंत रामदास, चेतू, विट्ठलदास, ताहिर अली आदि पात्रों को हमारे सामने रखा है जिससे समाज में व्याप्त धार्मिक अंध-विश्वास, नौकरशाही, भ्रष्टाचार, शोषण, साम्प्रदायिकता, भारतीयों की मानसिक दासता, कुरीतियाँ, सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक विसंगतियाँ आदि तत्कालीन ज्वलंत समस्याएं हमारे सामने उभर आती हैं ।

इन समस्याओं से समाज को परिचित कराकर उनसे बचते रहने की प्रेरणा देना भी प्रेमचंदजी की सामाजिक प्रतिबद्धता का द्योतक है । कुल मिलाकर देखने पर इस उपन्यास के द्वारा प्रेमचंदजी की प्रतिबद्धात्मक दृष्टि समाज के सामने यह साबित करती है कि किस प्रकार दहेज जैसी कुप्रथाएँ व्यक्ति, परिवार एवं समाज को कलुषित बनने को मज़बूर करती हैं और समाज को यह चेतावनी देती है कि इन कुप्रथाओं के कराल हाथों से व्यक्ति एवं परिवार को छुडाने के दायित्व से वह कभी नहीं बच सकता ।

कुछ पात्रों के चरित्र-विकास में कृत्रिमता अवश्य आ गई है जैसे सुमन एवं गजाधर दोनों का मानसिक परिवर्तन, दारोगा कृष्णचन्द का जेल से आने के बाद की विकृत मानसिकता एवं बीचों-बीच की आत्म-हत्या आदि । रचना की कलावादी प्रतिबद्धता की दृष्टि से यह उपन्यास त्रुटियों से अछूता नहीं है । पर एक साहित्यकार की सामाजिक प्रतिबद्धता को दृष्टि में रखकर परखने पर यह उपन्यास पूर्ण रूप से सामाजिक प्रतिबद्धात्मक उपन्यास है ।

प्रेमाश्रम

जमींदारी शोषण और कृषक जागरण का भावात्मक इतिहास प्रेमाश्रम में भी प्रेमचंदजी की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि की सफल अभिव्यक्ति हुई है । जमींदारी प्रथा की बीभत्सता को दिखाकर तत्कालीन समाज में भारतीय किसानों की दीन-हीन दशा का चित्रण करना एवं उन्हें सुधारने की प्रेरणा देना आदि प्रेमचंद जैसे प्रतिबद्धात्मक कलाकार ही कर सकते है । लेखक ने जमींदारी प्रथा को मृत्युदंड देने के लिए जमींदारों की चार पीढी को कहानी हमारे सामने प्रस्तुत की है जिसमें सामंतीय जमींदार जटाशंकर प्रथम पीढी का है, पतनोन्मुख सामन्तीय व्यवस्था का जमींदार प्रभाशंकर दूसरी का है, बौद्धिक-भौतिक युग का ज्ञानशंकर तीसरी का है और गाँधीवादो एवं समाजवाद से प्रभावित मायाशंकर चौथी पीढी का है । इनमें प्रथम तीन पीढियों के चित्रण के द्वारा प्रेमचंदजी जमींदारी शोषण व्यवस्था के बहुमुखी आयामों से भारतीय समाज को परिचित कराते हैं ।

इसका मुख्य पात्र ज्ञानशंकर खल-नामक की संज्ञा से विभूषित वैज्ञानिक युग का जमींदार है जिस पर ज़मींदारी प्रथा के सभी दोष आरोपित है जैसे अन्याय, अत्याचार, निर्दयता और यहाँ तक कि गायत्री की संपत्ति के मोह में उसे फँसाना एवं राय कमलानंद को जहर देना आदि । ब्रिटीश हुकूमत में अपने प्रभाव के कारण सरकारी अफसरों को भी वह अपनी उँगलियों पर नचाते थे । अपने ही परिवार के साथ भी मानवीय व्यवहार करना ज्ञानशंकर को आता नहीं था । समाज के प्रति प्रतिबद्ध लेखक ने जमींदारी प्रथा के एवं ज्ञानशंकर के पतन को दिखाने के लिए उसी प्रथा से ही उसकी भूमिका तैयार की है । ज्ञानशंकर के पुत्र मायाशंकर से अपनी ज़मीन को गरीब किसानों के बीच बाँटते दिखाना प्रेमचंदजी को प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का ज्वलंत उदाहरण है । युगीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर जमींदारी शोषण-प्रथा के विरुद्ध असंगठित किसानों को क्रांतिकारी संघर्ष की प्रेरणा देना प्रेमचंदजी को प्रतिबद्धात्मक दृष्टि समीचीन नहीं मानती थी । इसी वजह से उन्होंने किसानों की दशा में सुधार लाने के लिए जमींदारों के मनः परिवर्तन पर जोर दिया है ।

लेखक ने इसमें अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता के उत्कट आग्रह के कारण उपन्यास को कलात्मकता को नकारा है और संपूर्ण उपन्यास को अविश्वसनीय बना दिया है । जमींदारी प्रथा की भयानकता को दिखाकर उसे समाज, देश एवं मानवता के लिए हानिकारक सिद्ध करना और गरीब किसानों को जमींदारी शोषण के दारुण पंजों से मुक्त करना - यह था प्रेमचंद का रचनात्मक लक्ष्य । उसकी सिद्धि के लिए उन्हें रचना की मनोवैज्ञानिकता, कथा-ऐक्य एवं चरित्र का स्वतंत्र विकास आदि तत्वों को नज़र-अन्दाज़ करना पडा है । संक्षेप में हमें यह कहना पडता है कि "प्रेमाश्रम" में रचना की कलावादी पक्ष को नकारकर भी प्रेमचंदजी ने समाज के प्रति अपनी प्रतिबद्धात्मक दृष्टि को उभारा है ।

रंगभूमि

"रंगभूमि" प्रेमचंदजी का सबसे बडा उपन्यास है जिसमें भारतीय समाज को ह्रासोन्मुख सामंतवादी व्यवस्था की ओर से नवोदित औद्योगिक पूँजीवाद की दिशा में संक्रमण करता हुआ दिखाया गया है । संपूर्ण देश को अपने शोषण-पंजों में आबद्ध करने वाले पूँजीपतियों के विरुद्ध एक साधारण भिखारी सूरदास से संघर्ष करते हुए दिखाकर समाज को इन अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा प्रेमचंदजी ने इस उपन्यास के द्वारा दी है - यह प्रेमचंद की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का संबसे बडा उदाहरण है ।

इसमें तत्कालीन भारतीय समाज की राजनैतिक स्थिति की सफल अभिव्यक्ति हुई है । जनता में नव राजनैतिक जागरण को जन्म देने में इस रचना का योगदान सबसे महत्वपूर्ण है । समाज एवं देश के प्रति प्रतिबद्ध लेखक ने इस रचना के द्वारा भारतीय जनता को अवगत कराया है कि ब्रिटीश शासन से भारतवर्ष की क्या दुर्दशा हो रही है और देश को ग्रसित पूँजीवादी व्यवस्था का क्या परिणाम निकलता है ।

इसको मुख्य कथा गाँधीवादी आदर्शों का ठेका लेकर चलने वाले सूरदास नामक भिखारी एवं पूँजीपति जॉन-सेवक के बीच के संघर्ष का है । इस संघर्ष में भारतीय आदर्शों की प्रतिमूर्ति अंधा सूरदास की मृत्यु होती है और पूँजीपति जॉन सेवक उसकी भूमि हडप कर वहाँ एक सिगरेट का कारखाना खोलता है । यहाँ हमें यह सन्देह होता है कि यहाँ तक आकर क्या प्रेमचंद की आस्था आदर्शवाद से अलग हो गई थी ? क्यों आदर्शों की मूर्ति भिखारी सूरदास को अंधा बना दिया है - यह भी विचारणीय बात है । पर प्रेमचंद की प्रतिबद्धात्मक दृष्टि की झलक सूरदास के चरित्र में हम अवश्य देख सकते है । औद्योगिक पूँजीवाद के दुष्परिणामों से अवगत सूरदास भारतीय समाज को उनसे बचाने के लिए अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक संघर्ष करता रहता है और उसी संघर्ष में ही मृत्यु का वरण भी कर लेता है । मानव-हित

एवं समाज कल्याण की भावना से प्रेरित सूरदास के द्वारा पूँजीपतियों के शोषण एवं अत्याचारों के विरुद्ध अकेले आजीवन संघर्ष करते दिखाना प्रेमचंदजी की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का ज्वलंत उदाहरण है । "सूरदास के चरित्र में आशावाद एवं मनोबल की दृढता का समावेश करके प्रेमचंद नं उसे जन-मुक्ति आन्दोलन को प्रेरणा देने वाली जन-शक्ति की अमर प्रतिभा के रूप में प्रतिष्ठित किया है ।"[1]

पूँजीपति जॉन सेवक की बेटी सोफिया के त्रासदीय अंत को दिखाना एवं इकलौते पुत्र प्रभु सेवक को समाज-हित के कार्यों में जुडते दिखाना - दोनों प्रेमचंद की प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का परिचय देती है । इसके द्वारा प्रतिबद्धात्मक लेखक प्रेमचंदजी ने पूँजीपतियों को यह चेतावनी दी है कि मात्र धनोपार्जन से जीवन में सुख एवं शांति पाने की कामना रखना केवल एक मृग-मरीचिका ही होगी ।

कुल मिलाकर देखने पर इस उपन्यास में कलापक्ष की स्थिति मज़बूत न होने पर भी रचना को अपनी सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि के अनुसार मोडने में प्रेमचंदजी पूर्ण रूप से सफल हुए हैं । कथानक की विस्तृति के कारण रोचकता में कमी अवश्य आयी है और पात्रों के व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास को अवरुद्ध करते हुए अनावश्यक रूप में उनको मृत्यु के घाट उतारने की प्रवृत्ति यहाँ भी परिलक्षित होती है

कायाकल्प

वस्तु-संरचना की दृष्टि से प्रेमचंद की सबसे जटिल एवं शिथिल रचना है कायाकल्प जिसमें एक ओर तत्कालीन राजनैतिक एवं सामाजिक स्पन्दन का शोषण-ग्रस्त किसानों और मज़दूरों का और साम्प्रदायिकता के विष से संत्रस्त राष्ट्रीय एकता का यथार्थ चित्र है तो दूसरी ओर अतिभौतिक आख्यानों का लंबाचौडा वर्णन भी मिलता है । उपन्यास के प्रारंभ से ही हम लेखक की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि से परिचित हो जाते है । जन्म-जन्मान्तर एवं कायाकल्प में विश्वास रखनेवाली

---

1. डॉ. जनेश्वर वर्मा - प्रेमचंद एक मार्क्सवादी मूल्यांकन - पृ: 230.

रानी देवप्रिया अपनी वासना की पूर्ति के लिए कई पुरुषों को जन्म-जन्मों में पाती है। पर अंत में रानी देवप्रिया को तपस्विनी बन कर समाज सेवा में संलग्न दिखाया गया है। भौतिक सुख-सुविधाओं के पीछे पागल बनकर फिरने वाले समाज को वासना रहित आदर्श जीवन बिताने की प्रेरणा देना प्रेमचंद की प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का परिचायक है।

मज़दूरों के विरुद्ध किये जाने वाले अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाने वाला चक्रधर जब रियासत में अधिकारी बन जाता है तब मज़दूरों के साथ सबसे निष्ठुर एवं अमानवीय व्यवहार करने वाला बन जाता है। लेकिन चक्रधर को अंत में निराश होकर राज-महल को छोडते एवं गरीबों की सेवा में जुडते दिखाया है। चक्रधर के चारित्रिक सुधार में भी प्रेमचंद की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि अवश्य झलकती है।

ख्वाजा महमूद एवं यशोदानन्दन के माध्यम से समाज में व्याप्त साम्प्रदायिकता का जो प्रसंग है, उसमें भी प्रेमचंद की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि स्पष्ट परिलक्षित हुई है। बचपन से घनिष्ठ मित्र होने पर भी धर्म के नाम पर दोनों का शत्रु बनना और अंत में साम्प्रदायिक झगेडे में यशोदा नन्दन की मृत्यु होना और बाद में ख्वाजा महमूद का पश्चाताप करना आदि का चित्रण समाज के प्रति प्रतिबद्ध साहित्यकार ही कर सकता है।

कुल मिलाकर देखने पर इस रचना में रचनाकार की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि की सफल अभिव्यक्ति तो हुई है, पर रचना में रचनाकार की कलावादी प्रतिबद्धता का बिल्कुल अभाव है। इसमें न तो कथ्य-ऐक्य है और न पात्रों का स्वतंत्र विकास। प्रेमचंद जैसे लेखक से रानी देवप्रिया संबंधी अति-भौतिक आख्यानों को स्वीकारने में हिचकिचाहट अवश्य होती है।

निर्मला

नारी-समस्या प्रधान इस लघु उपन्यास में प्रेमचंदजी ने वेदनाग्रस्त भारतीय नारी-जीवन की यथार्थपरक झाँकी प्रस्तुत की है । समाज के प्रति प्रतिबद्ध रचनाकार प्रेमचंदजी ने इस उपन्यास के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि नारी विषयक अधिकांश समस्याओं का मूल समाज में व्याप्त दहेज प्रथा में ही निहित है । इसमें लेखक ने सामाजिक प्रतिबद्धता का समर्थन किया है । दहेज़ की कुप्रथा के कारण जन्म लेने वाली स्थितियों के शिकार पात्रों को प्रस्तुत करके यह दिखाया गया है कि दहेज के परिणाम स्वरूप किस तरह मानव जीवन नारकीय बन जाता है । निर्मला इसकी सबसे बडी शिकार है । समाज के लिए वह एक चुनौती है जिसके प्रति प्रतिबद्ध हुए बिना कोई भी लेखक अपने दायित्व को नहीं निभा सकता ।

दहेज प्रथा एवं उससे उद्भूत बेमेल विवाह की भयानकता को दिखाने के लिए प्रेमचंदजी ने इस उपन्यास को एक मध्यवर्गीय परिवार की भूमिका में प्रस्तुत किया है । उपन्यास की नायिका निर्मला दहेज के अभाव में अपने पिता की उम्र वाले एक अधेड व्यक्ति के साथ संतप्त जीवन बिताने को अभिशप्त है । निर्मला के लिए पति तोताराम प्रेम की रक्षा करने वाला पुरुष न होकर पूजा के पात्र है क्योंकि तोताराम में निर्मला को अपने पिता की छवि ही दिखाई पडती थी । अंतिम चरण में कथा इस तरह मुडती है कि तोताराम के बडे पुत्र मंसाराम के साथ निर्मला के कलुषित प्रेम के सन्देह में तोताराम पड जाता है जिसके बारे में निर्मला स्वप्न में भी नहीं सोच सकती थी । यह संदेह तोताराम-परिवार का सर्वनाश का कारण बन जाता है । हीनता-भाव से पीडित पति तोताराम के साथ आजीवन व्यथा के हवनकुंड में जल कर राख बन जाने को अभिशप्त निर्मला अंत में अपनी बच्ची को यह कहकर समाज के हाथों सौंपने को विवश है - "मैं तो इसके लिए अपने जीवन में कुछ न कर सकी । केवल जन्म देने भर की अपराधिनी हूँ । चाहे क्वाँरी रखिएगा, चाहे विष देकर मार डालियेगा, पर कुपात्र के गले न मढिएगा, इतनी ही आपसे

विनय है ।"[1] दहेज प्रथा की बीभत्सता को निर्मला के इस दारुण अंत के माध्यम से समाज के सामने स्पष्ट दिखाना एवं इस कुप्रथा के विरुद्ध मानवीय चेतना को जागरित कराना आदि प्रेमचंद जैसे उच्च-कोटि के सामाजिक प्रतिबद्धात्मक रचनाकार से ही संभव है ।

दहेज के अभाव में निर्मला को छोडकर सुधा से विवाह करने वाला भुवन सिंह को अंत में परिचत हो जाने पर निर्मला के प्रति आकृष्ट होते दिखाया है और उसके साथ अपनी अशिष्ट व्यवहार का भेद खुल जाने पर आत्म-हत्या करते दिखाया है । दहेज के लोभ में निर्मला जैसे सुपात्रों को छोडकर सुधा जैसी नारियों से विवाह करने वाले युवकों को प्रेमचंदजी भुवनसिंह के दारुण अंत के द्वारा सख्त चेतावनी देते है । समाज में दहेज को विवाह की कसौटी मानने वालों के सम्मुख भुवन सिंह के चरित्र को एक सशक्त चेतावनी के रूप में प्रेमचंदजी ने प्रस्तुत किया है । यहाँ प्रेमचंद की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि की स्पष्ट छवि द्रष्टव्य है ।

इस रचना में सम्पूर्ण रूप से दृष्टि डालने पर हमें ऐसा लगता है कि इसमें रचनाकार ने समाज एवं रचना दोनों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को पूर्ण रूप से निभाया है । पात्रों के अन्तः जगत के चित्रण में गहराई की कमी अवश्य है, पर इसके द्वारा पात्रों के चरित्र-विकास दिखाने में प्रेमचंद पर्याप्त मात्रा में सफल सिद्ध हुए हैं । कुछ कलापक्षीय असफलतायें होने पर भी इस रचना में रचनाकार सर्वप्रथम रचना के कलापक्ष के प्रति भी प्रतिबद्ध दिखाई पडता है ।

---

1. निर्मला - पृः 175.

प्रतिज्ञा

विधवा समस्या के विभिन्न आयामों को यथार्थवादी दृष्टि से प्रस्तुत करके उसका एक काल्पनिक समाधान प्रस्तुत करने वाला उपन्यास प्रतिज्ञा में भी प्रेमचंद की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि स्पष्ट परिलक्षित हुई है । इसमें मुख्यतः दो वर्गों का संघर्ष दिखाया गया है - एक वर्ग नव-चेतना एवं सुधारवाद से प्रेरित है तो दूसरा वर्ग रूढिग्रस्त प्राचीन मान्यताओं एवं परंपराओं के समर्थक । पात्रों का चारित्रिक आचरण अस्वाभाविकता से भर-पूर होने पर भी लेखक की सोद्देश्यता उनकी प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का परिचय देती है । विधवाओं का पुनः अधिवास कराने के उपायों को सुझाने के उद्देश्य से उपन्यास लिखा गया है ।

सुधारवादी भावनाओं से प्रेरित नव चेतना सम्पन्न अमृतराय को विधवाओं की दीन-हीन दशा में सुधार लाने के उद्देश्य से वनिताश्रम की स्थापना करते हुए एवं विधवा-विवाह को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से प्रेमा के साथ अपने वैयक्तिक प्रेम-संबंध को ठुकरा कर विधवा पूर्णा के साथ अपना प्रेम-संबंध जोडते दिखाया गया है । समाज का सबसे अभिशाप्त वर्ग विधवाओं की दीन-हीन दशा में सुधार लाने का उत्कट आग्रह अमृतराय के इस चरित्र- द्वारा प्रेमचंद अभिव्यक्त करते हैं । प्रेमा भी अमृतराय से प्रभावित होकर दाननाथ से शादी करती है एवं समाज में विधवाओं की दारुण दशा में सुधार लाने के प्रयत्न में संलग्न हो जाती है । अस्वाभाविक लगने पर भी अमृतराय और प्रेमा दोनों को अपने वैयक्तिक स्वार्थों को त्यागकर विधवाओं की दारुण दशा में सुधार लाने के प्रयत्न में जुडते दिखाना प्रेमचंदजी की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का सबसे ज्वलंत उदाहरण है । विधवा पूर्णा को भी अंत में समाज-मंगल के कामों में जुडकर वनिताश्रम के संचालन में हाथ बढाती हुई दिखाया गया है । विधवाओं को सामाजिक अन्याय एवं अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करके अपने ही पैरों पर खडे रहने की प्रेरणा पूर्णा के चरित्र द्वारा प्रेमचंदजी देते हैं । इन तीनों पात्रों के चरित्र-विकास में प्रेमचंदजी की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि स्पष्ट झलकती है ।

कुल मिलाकर देखें तो यह कहना पडता है कि प्रेमचंदजी इस उपन्यास में अपनी सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि की तीव्रता के कारण उसके कलापक्ष को बिल्कुल नकारा है । इसकी कथा एवं पात्र-चयन कलात्मक शिथिलता का परिचय देते है । पात्रों के स्वतंत्र विकास को अवरुद्ध करके उन्हें मानव से निकालकर पुर्जा मात्र बना दिया है । अस्वाभाविकता एवं काल्पनिकता की प्रचुरता है । फिर भी विधवा समस्या को, जो तत्कालीन समाज को सबसे भीषण समस्या का रूप धारण कर चुकी थी, उसे सुलझाने की अपनी प्रतिबद्धात्मक दृष्टि को अभिव्यक्त करने में यह उपन्यास पूर्ण रूप से सफल हुआ है ।

गबन

ह्रासोन्मुख सामंती एवं साम्राज्ञी व्यवस्था का नंगा चित्र प्रस्तुत करने वाले उपन्यास गबन में प्रेमचंदजी ने विभिन्न स्तरों के मध्य-वित्त वर्ग की समस्याओं को विस्तारपूर्वक उजागर किया है । इसका मुख्य पात्र रमानाथ अपनी आर्थिक विवशता को छिपाकर अपनी झूठी शान को प्रतिष्ठित रखने के प्रयत्न में पराजित हो जाता है और घर छोडकर कलकत्ते पहुँचने पर एक पतित जीवन बिताने को अभिशप्त है । पर प्रेमचंद की प्रतिबद्धात्मक दृष्टि रमानाथ को पतित छोडना उचित नहीं मानती है और पत्नी जालपा एवं देवीदीन की प्रेरणा से रमानाथ सुधर जाता है और अंत में समाज सेवा में जुड जाता है । निर्मम परिस्थितियों के झोंक लगने पर पतित जीवन बिताने को अभिशप्त रमानाथ जैसे पात्रों को परिवर्तित करके अंत में समाज-सेवा के भव्य-सोपानों में प्रतिष्ठित करके दिखाना प्रेमचंदजी की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का सच्चा परिचायक है ।

कुछ आलोचकों का मत है कि गबन की मुख्य समस्या नारी की आभूषण-प्रियता है । यह सच है कि रमानाथ की पत्नी जालपा में आडंबरप्रियता, आभूषण-प्रियता आदि मध्यवर्गीय नारी सहज कमजोरियाँ विद्यमान थीं । फिर भी "गबन" के संबंध में आलोचकों का उपर्युक्त मत पूर्ण रूप से स्वीकार्य नहीं लगता,

क्योंकि जालपा के मन में गहनों के प्रति जो लगाव है वही इस उपन्यास की एकमात्र समस्या नहीं है । सच्चाई का बोध हो जाने पर जालपा में परिवर्तन आ जाता है और स्त्री को खुद अपने ही पैरों पर खड़े होने की बात सोचने लगती है । प्रेमचंदजी की प्रतिबद्धात्मक क्रांतिदर्शिता का स्वरूप यहाँ द्रष्टव्य है । अंत में पति जीवन बिताने वाले पति रमानाथ को जालपा ही प्रेरणा देकर सुधारती है । इस दृष्टि से देखने पर प्रेमचंदजी ने जालपा को भारतीय परिवेश में अपने सामाजिक दायित्व को निभाने के संदर्भ में एक अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका पर प्रतिष्ठित किया है । इसमें प्रेमचंद को प्रतिबद्धात्मक दृष्टि की झलक अवश्य मिलती है ।

इंदुभूषण की पत्नी रतन के माध्यम से प्रेमचंदजी ने विधवा समस्याओं के ज्वलंत पक्षों को एक नये सिरे से उजागर किया है और विधवाओं को अपनी आर्थिक विवशताओं से छुडाने के लिए पति की सम्पत्ति पर उन्हें अधिकार दिलाने का समर्थन किया है । समाज के प्रति प्रतिबद्ध रचनाकार ही ऐसी एक सुझाव रख सकता है । पतित जीवन बिताने वाली जोहरा नामक वेश्या में भी मनः परिवर्तन लाकर समाज-मंगल के कामों में जुडते दिखाना भी प्रेमचंदजी की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का परिचायक है ।

कुल मिलाकर देखने पर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इसके सभी पात्रों को अंत में समाज सेवा में संलग्न दिखाना प्रेमचंद की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का परिणाम है । जालपा, रतन, जोहरा आदि नारी पात्रों के माध्यम से प्रेमचंद यह स्पष्ट करते हैं कि जब तक नारी अपनी चपलताओं से मुक्ति नहीं प्राप्त करती, तब तक उसका उद्धार एक सुहावना स्वप्न-मात्र रहेगा । यह संदेश उन्होंने परोक्ष रूप में जनता के सामने प्रस्तुत किया है । साथ ही साथ विधवाओं की स्थिति पर पुनः विचार करने के लिए और उनको शोषण से मुक्त करने के लिए मार्ग ढूँढ निकालने का संदेश भी दिया है । संक्षेप में इस उपन्यास में मानसिक परिवर्तन का प्रश्रय लेकर प्रेमचंदजी ने प्रतिबद्धता को नये आयामों से जोड दिया है । लेकिन रचना का कलापक्ष त्रुटियों से अछूता नहीं है ।

कर्मभूमि

प्रेमचंदजी की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि को सफल अभिव्यक्ति देने वाला उपन्यास है कर्मभूमि । सामाजिक अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा प्रदान करने वाले इस उपन्यास में प्रेमचंदजी ने प्रारंभ में देश में व्याप्त पूँजीवादी शिक्षा पद्धति एवं अछूतों के विरुद्ध किये जाने वाले अन्याय के विरुद्ध सक्रिय क्रांति चालाने वाले डॉ. शाँतिकुमार से पाठकों को परिचित कराया है । "कर्मभूमि" का नायक अमरकांत है जो शांधीवादी विचारों से प्रभावित होकर आत्म-शुद्धि के लिए चर्खा चलाता है । पर अपनी विवाहिता पत्नी सुखदा को छोडकर सकीना एवं मुन्नी के साथ संबंध जोडने वाले समाज-सुधारक अमरकाँत के चरित्र द्वारा प्रेमचंदजी ने तथाकथित समाज-सुधारकों के वैयक्तिक जीवन की विसंगति एवं खोखलेपन पर तीखा व्यंग्य किया है । शोषकों के निष्ठुर हाथों में पिसने वाले किसानों को वामपंथी विचारों से प्रभावित स्वामी आत्मानंद के द्वारा संघर्ष की ओर उन्मुख होने के लिए आह्वान देना प्रेमचंद की विशिष्ट दृष्टि का परिचायक है । स्वाभिमान से युक्त सुखदा में नारी का आधुनिक भाव हम देख सकते है जिसमें पुरुष जाति के अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाने की एवं समाज-सेवा में अपना योगदान देने की अदम्य क्षमता है । सकीना एवं मुन्नी भी अंत में सामाजिक अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष के पथ पर उतर आती है । नैना भी अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष में अपनी जान उत्सर्ग कर देती है । कुल मिलाकर "कर्मभूमि" सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक शोषण के बुरे परिणामों का पर्दाफाश करता है और उसके विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा देता है ।

इस उपन्यास में प्रेमचंद की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि सर्वत्र स्पष्ट परिलक्षित होती है । प्रारंभ में डॉ. शांतिकुमार को पूँजीवादी शिक्षा पद्धति का विरोध करते हुए और उसके स्थान पर जनवादी शिक्षा-पद्धति का समर्थन करते हैं । भारत की सबसे जटिल अछूतों की समस्या को भी इसमें उभारा है । डॉ. शांतिकुमार के नेतृत्व में विद्रोह के द्वारा अछूतों के मन्दिर - प्रवेश को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । इन सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध खुलकर विद्रोह करने की प्रेरणा वही दे सकता है जो समाज के प्रति पूर्ण रूप से प्रतिबद्ध हो ।

अमरकांत के चरित्र में भी यही प्रतिबद्धात्मकता हम देख सकते है । समाज-मंगल के लिए वह निस्वार्थ सेवा-भाव से प्रेरित है और समाज में रक्त-रंजित वर्ग-संघर्ष का हर कीमत पर वह विरोध भी करता है । अमरकाँत के दृष्टिकोण के आधार पर प्रेमचंदजी ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि रक्तपात से युक्त क्रांति भारतीय जन-हित के अनुकूल नहीं है । वामपंथी विचारों का समर्थन करते समय भी रक्त-कलुषित क्राँति को स्वीकार करना प्रेमचंद केलिए उचित नहीं लगता था । यहाँ उनकी मानवतावादी दृष्टि अधिक प्रखर हुई है । वाद-विशेष की सीमा-रेखाओं को तोडकर मानवीयता के प्रति दिखाई जाने वाली प्रतिबद्धात्मक दृष्टि यहाँ उभर कर आयी है ।

वामपंथी विचारधारा से प्रभावित स्वामी आत्मानंद का किसानों को संघर्ष का आह्वान देना भी प्रेमचंद की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का परिचायक है । साधारणतया यह सोचा जाता है कि मार्क्सवाद नास्तिकता का पोषण करने वाला है और इसलिए धार्मिकता का विरोध भी करता है । लेकिन स्वामी आत्मानंद के द्वारा दलितों और शोषितों को संगठित करना और वामपंथी विचारों से प्रभावित होकर संघर्ष के लिए प्रेरणा देना उपर्युक्त मान्यता का खंडन करने के उद्देश्य की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है । प्रेमचंद की सामाजिक प्रतिबद्धता वाद-विशेष के समर्थन की बात को छोडकर वादों के समन्वय की सीमा को अपनाना उचित समझती है । सामाजिक उद्धार के महान लक्ष्य के लिए विरोधी आदर्शों के बीच ताल-मेल बैठाने की प्रेरणा प्रेमचंदजी ने दी है और यह एक अत्यंत प्रशंसनीय दृष्टिकोण है ।

प्रेमचंद भारतीय नारी की स्वतंत्रता के समर्थक थे । सुखदा के चरित्र के माध्यम से नारी जाति को पुरुष-प्रधान सामाजिक व्यवस्था में स्त्री के प्रति किये जाने वाले शोषण के विरुद्ध जनमत संगृहीत करने का प्रशंसात्मक कार्य हुआ है । सुखदा, मुन्नी, सकीना एवं नैना का देश के सामाजिक एवं राजनैतिक आन्दोलन में सक्रिय भाग लेना स्त्री की क्रियात्मक भूमिका का परिचायक है । ये कुछ ऐसे उदाहरण है जिनके माध्यम से प्रेमचंद ने नारी जाति को देश की नियति का निर्माण करने में उचित भूमिका अदा करने की शक्ति प्रदान की है । गाँधीवादी समाज-

सुधारक अमरकांत के चरित्र द्वारा प्रेमचंदजी ने यह दिखाया है कि तथाकथित सुधारकों का वासना-ग्रस्त वैयक्तिक जीवन कितना हेयपूर्ण होता है ।

कुल मिलाकर देखने पर "कर्मभूमि" में दिखाई पडने वाली प्रतिबद्धता समाजोन्मुख है । और इस कारण समसामयिक जीवन-बोध का समन्वय कर्म के मर्मस्पर्शी तत्वों के साथ किया गया है । जैसे शीर्षक से ही सूचित होता है प्रेमचंद ने कर्मभूमि को प्रतिबद्धता की भूमि के रूप में ही स्वीकारा है । कार्यान्वयन, क्रियाशीलता और प्रगति के विविध मार्गों से गुज़रती हुई मानवीय क्रियाशीलता को लक्ष्य की ओर उन्मुख कराना ही प्रेमचंद की प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का उद्देश्य है । परंतु ऐसा करते समय प्रेमचंद को बहुत सारी बातों को अनदेखा करना पडा था । उसमें से एक है उपन्यास के शिल्प एवं कलापक्ष की ओर दिखायी गयी असावधानी । इस कारण से कथ्यात्मक स्वाभाविकता को ठेस पहुँची है तो कहीं आविष्करण के सौन्दर्य में । पात्र-परिकल्पना त्रुटियों से अछूती नहीं । इसके बावजूद प्रतिबद्धता की जो संपूर्णता इस उपन्यास में झलकती है - वह अनन्यतम है ।

गोदान

सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि की चरम सीमा को छूने वाला उपन्यास "गोदान" निर्विवाद रूप से प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ रचना है । इस उपन्यास में होरी नामक एक साधारण किसान को भारतीय किसान का प्रतिनिधि माना गया है और उसकी आशाओं और आकांक्षाओं, विवशताओं और विपन्नताओं का मर्मभेदी चित्र प्रस्तुत करके उसके प्रति पाठकों में सहानुभूति को जागृत कराया है । परंपरागत भारतीय नायकीय परिकल्पना से हटकर इसका नायक एक साधारण किसान है जो कर्ज में जन्म लेकर, कर्ज में जीकर अंत में उसी कर्ज में मर जाता है । "गोदान" में शोषण के दानवी पंजों से होरी को बचाने के लिए किसी भी समाज-सुधारक, नेता या धार्मिक आचार्य की अवतारणा नहीं हुई है । इसमें प्रेमचंद की समाज के प्रति प्रतिबद्धात्मक दृष्टि स्पष्ट परिलक्षित होती है । प्रेमचंदजी को यह दृढ़ विश्वास

हो गया था कि शोषित जनता की रिहाई के लिए समाज-सुधारक आदि की संकल्पना बडी खतरनाक होगी । शोषित किसानों और मज़दूरों को अपने ही पैरों पर खडे होकर शोषकों के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष में जुडना है और किसी खयाली सुधारक की बाँट जोहना व्यर्थ है - यही है इस उपन्यास का मूलभूत संदेश जिसमें प्रेमचंद की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का अत्यंत ज्वलंत स्वरूप प्रतिबिंबित होता है ।

उपन्यास के प्रारंभ से ही पाठक होरी के भोलेपन, धर्म-भीरुता झूठी कुल-मर्यादा की भावना, सडी-गली सामाजिक मान्यताओं और जर्जरित परंपराओं के प्रति आस्था आदि चारित्रिक त्रुटियों से परिचित है । भारतीय किसान अपने प्रति किये जाने वाले अन्याय और शोषण को मौन रूप से सहन करते आये थे और उनके विरुद्ध संघर्ष करने में अपनी निष्क्रियता का परिचय दे रहे थे । किसानों की इन दुर्बलताओं का प्रबुद्ध शोषक वर्ग खूब फायदा उठाता था । होरी के द्वारा भारतीय किसानों का यह जीवंत चित्रण प्रेमचंदजी की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का एक ज्वलंत उदाहरण है । होरी के इस चित्रण द्वारा प्रेमचंद भारतीय किसानों को यह संदेश देते हैं कि उन्हें अपनी इन चारित्रिक दुर्बलताओं से सतर्क रहना है जिनके आधार पर उनकी यह निर्मम लूट हो रही है । होरी की मृत्यु भारतीय किसान को एक चेतावनी है । सजग न बनने पर भारत के शोषित वर्ग का वही दारुण अंत होगा जो होरी को हुआ था ।

उपन्यास के प्रारंभ से अंत तक होरी अपनी परिस्थिति-जन्य विवशताओं से संघर्ष करता है और अंत में दम तोड देता है । प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों की तुलना में होरी के इस चित्रण में एक विशिष्टता दिखाई पडती है । अपने पूर्ववर्ति उपन्यासों के पात्र इतनी निर्मम मानसिक व्यथा को झेलते नहीं हैं और झेलते है तो तुरंत ही आत्म-हत्या में उसका अंत ढूँढते हैं । होरी अपनी संपूर्ण जिन्दगी को व्यथा के हवनकुंड में अर्पित करता है, फिर भी कल की मंगलपूर्ण भविष्य को बनाने के मोह में दिल-तोड परिश्रम में संलग्न रहता है । होरी में चित्रित यह

अनन्य जिजीविषा प्रेमचंद के अन्य पात्रों में बिरले ही परिलक्षित होती है । यह सच है कि होरी तक आते ही प्रेमचंद की आदर्शवाद से आस्था तो उठ चुकी थी, पर मानवीयता पर उनकी आस्था और भी अधिक सुदृढ़ होने लगी थी । होरी से आत्म-हत्या न कराकर एक सुनहरे भविष्य के मोह में अपनी जिजीविषा का बनाये रखते हुए चित्रित करना सिर्फ मानवीयता के प्रति प्रतिबद्ध कलाकार ही कर सकता है । होरी के इस चित्रण में प्रेमचंद की प्रतिबद्धात्मक दृष्टि समाज विशेष के संकुचित दायरों को पार कर मानवीयता के उत्तुंग श्रृंगों का संस्पर्श करती है ।

उपन्यास के अंतिम भाग में प्रेमचंदजी ने मृत होरी और उसके पास बेहोश पडी उसकी पत्नी धनिया-दोनों को समाज पर ही छोडा है । उनकी सहायता के लिए वहाँ कोई भी पात्र उपस्थित नहीं है और यदि कोई है तो गोदान की मांग करने वाला दानव दातादीन ही । यहाँ यह सन्देह होने लगता है कि होरी की मृत्यु के द्वारा प्रेमचंदजी ने भारतीय आदर्शवाद के अंधेपन की ओर संकेत किया है और और धार्मिक रूढ़ियों एवं आचारों पर प्रश्न-चिह्न लगाया है । होरी और धनिया - दोनों के इस त्रासदीय अंत का संपूर्ण दायित्व समाज पर ही है । वस्तुतः प्रेमचंदजी ने गोदान के इस दारूण अंत को प्रस्तुत करके सुषुप्त भारतीय अन्तरात्मा को जगाने की कोशिश की है । प्रेमचंदजी की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का सबसे उदात्त रूप यहाँ द्रष्टव्य है ।

अगली पीढ़ी का प्रतिनिधि गोबर भी उस सामाजिक व्यवस्था से गुज़रता है जिससे होरी गुजरा था । कालानुगत भिन्नताएं होने पर भी समाज में शोषण का चक्र बराबर चलता रहता है । गोबर के माध्यम से पूँजीवादी शोषण के निष्ठुर हाथों में आ फँसने वाले मज़दूरों का दारूण चित्र प्रस्तुत किया गया है । एक ओर मज़दूरों की विवशताओं और सीमाओं से और दूसरी ओर बढ़ती हुई बेकारी की समस्या से फायदा उठाने वाले पूँजीपतियों की निष्ठुर व्यवहार-नीति-दोनों से प्रेमचंदजी भली-भाँति परिचित थे । किसानों की अपेक्षा संगठन बनाकर अपने

अधिकारों को प्राप्त करने की मज़दूरों की क्षमता को भी प्रेमचंद जानते थे । पर क्रांति के माध्यम से उन्हें प्राप्त करने से समाज पर क्या दुष्परिणाम पड सकता है, उसे भी प्रेमचंदजी ने अपनी दूरदर्शी दृष्टि से "गोदान" में अभिव्यक्त किया है । मिल मालिक खन्ना के मिल का सर्वनाश क्रांति से होता है, पर उससे खन्ना ही नहीं, संपूर्ण मज़दूर वर्ग भी परेशान हो जाता है और बहुत से मज़दूर आहत भी हुए थे जिनमें गोबर भी आता है ।

प्रेमचंद यह जानते थे कि प्रगतिवाद की भी एक सीमा-रेखा होती है और रक्त-रंजित क्रांति से समाज में कोई शाश्वत परिवर्तन लाना असंभव है । वस्तुतः प्रेमचंदजी ने इस उपन्यास में रक्त-कलुषित विप्लव को नकारा है और विप्लवकारी गोबर को आहत दिखाया है । यहाँ प्रेमचंदजी की मानवीयता की सीमा-रेखाओं को संस्पर्श करने वाली सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि की सुन्दर छवि मिलती है । शहर में जाकर मज़दूर बनने पर गोबर का जो चारित्रिक पतन प्रस्तुत किया गया है, उससे प्रेमचंदजी ने संपूर्ण मज़दूर वर्ग को कलुषित वातावरण के विरुद्ध संघर्ष करके अपने चरित्र को उदात्त रखने का संदेश दिया है । यहाँ पर भी उनकी सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि स्पष्ट झलकती है ।

सामाजिक अन्याय एवं अत्याचारों के विरुद्ध डटकर आवाज़ उठाने वाली होरी की पत्नी धनिया के चित्रण में भी प्रेमचंद को यही प्रतिबद्धात्मक दृष्टि परिलक्षित हुई है । प्रतिकूल परिस्थितियों को निर्मम मार खाकर वह होरी की अपेक्षा अधिक सतर्क बनती है और होरी से यह पूछने का साहस रखती है कि तुम क्यों उन शोषकों के खुशामत करने जाते हो? प्रारंभ से लेकर अंतिम क्षण तक वह होरी के साथ जुडी हुई है और अंत में यह कहकर वह भी पछाड खाकर होरी के साथ गिर पडती है - "महाराज ! घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा । यही पैसे है, यही इनका गोदान है ।"[1] धनिया की यह चरित्र-सृष्टि प्रेमचंदजी ने अपनी

---

1. गोदान - पृ: 348.

सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि को मन में रखकर ही की है । धनिया के चरित्र द्वारा यह आभास होता है कि भारतीय नारी के लिए अब जागने का वक्त आ गया है । सामाजिक अन्याय और अत्याचारों के विरुद्ध उसे संघर्ष करना है । पर संघर्ष करते वक्त भी भारतीय नारी को अपनी भारतीयता विनष्ट करना श्रेयस्कर नहीं है । धनिया का चरित्र इसका ज्वलंत उदाहरण है ।

उपन्यास के अन्य पात्र जैसे दातादीन, मातादीन, नोखेराम, झींगुरी सिंह, राय साहब, पटेश्वरी पटवारी, राम सेवक आदि हैं, वे सब शोषण के विभिन्न आयामों से परिचित कराने वाले पात्र हैं । प्रेमचंदजी ने इन शोषकों की स्वार्थ-निष्ठा, भ्रष्टाचार, बेदर्दी, नैतिक पतन आदि को दिखाकर आम जनता को इन शोषकों के वास्तविक स्वरूप से परिचित कराया है और इनके कपट आचरण से बचने की चेतावनी दी है । शहर के पूँजीपति खन्ना साहब के चरित्र-चित्रण से प्रेमचंदजी पूँजीपतियों को यह संदेश देते हैं कि मात्र धनोपार्जन से वे कभी भी जीवन में संतुष्ट नहीं हो सकते और गरीब मज़दूरों को लूटकर बनाने वाली स्वप्निल इमारतें समय की गति के साथ ढल जायेंगी । शोषक वर्ग के इस चित्रण में भी प्रेमचंद की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि झलकती है । यह शोषकों के लिए एक पूर्वसूचना है और शोषितों को सतर्कता का एक उद्‌बोधन भी ।

इस उपन्यास के अन्य नारी पात्र जैसे सोना, रूपा, झुनिया, सिलिया आदि के चरित्र-चित्रण में भी प्रेमचंदजी ने अपनी प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का परिचय दुहराया है । वे सब नारी शोषण के विभिन्न स्तरों के प्रतिनिधि हैं । भारतीय परिवेश में अपने मानवीय अधिकारों के प्रति संघर्ष करने में वे असमर्थ हैं । भारतीय नारी की, विशेषकर देहाती नारी की विवशताओं से समाज को परिचित कराकर उसकी दशा में सुधार लाने के प्रयत्न में समाज को जुडाना ही इन पात्रों के चित्रण के माध्यम से प्रेमचंदजी का लक्ष्य रहा है । जब तक भारतीय नारी द्वारा संघर्ष नहीं होगा, तब तक स्वयमेव कोई परिवर्तन इस समाज में नहीं आ पायेंगे ।

नारी पात्रों की लंबी कतार में मालती का भी उचित स्थान है जो शोषकों के बीच फँसी रहकर भी शोषकों को फँसाती है और अपने सौन्दर्य से उनको इशारे पर नचाती है । वस्तुतः मालती का चित्रण पूँजीवादी समाज में नारी के माँसल सौन्दर्य का भोगात्मक पक्ष उभारकर रखने की दृष्टि से हुआ है जो यथार्थ के एक ओर चेहरे को उभारता है । प्रतिबद्धात्मक जीवन-बोध से युक्त होकर संघर्ष करने वाली नारी को भोग्या बना देना उसकी अस्मिता के प्रति किया जाने वाला अपराध है । स्वयं मालती भी अनजाने में इस अपराध में भागीदार हो जाती है - यह उसका विडंबनात्मक पक्ष है । और इस विडंबना का अंत एक ओर विरोध से जुडता है जिसका आधार है डॉ. मेहता, जो कि आदर्शों का रखवाला माना जाता है । इस तरह मेहता और मालती प्रतिबद्धता की दृष्टि से कोई सफल भूमिका अदा करके नहीं दिखाई पडते, परंतु मानवीय दुर्बलता के प्रतीकात्मक पक्षों का भली-भांति निर्वाह करते दिखाई पडते हैं ।

औपन्यासिक कला की परकाष्ठा को छूने वाले इस उपन्यास में प्रेमचंद पर्याप्त मात्रा में आदर्शवाद एवं काल्पनिकता से मुक्त परिलक्षित होते हैं । पर तितली मालती के चारित्रिक सुधार एवं आदर्शों की प्रतिमूर्ति डॉ. मेहता - दोनों के संदर्भ में आदर्शवाद एवं काल्पनिकता को प्रश्रय मिला है । उपन्यास का वस्तुपक्ष एवं कलापक्ष दोनों उत्कृष्ट हैं ।

इस विवेचन के उपरांत यह स्पष्ट होने लगता है कि प्रेमचंद ने गोदान में जिस सामाजिक प्रतिबद्धता का स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह वाद-विवादों की सीमा-रेखाओं को पार कर मानवीयता के प्रति उन्मुख प्रतिबद्धता का रूप धारण करता है । पात्र, घटनाएँ एवं परिस्थितियाँ भारतीय अवश्य हैं, परंतु उनकी गहराइयों में स्पन्दित होने वाली मानसिकता, निष्ठा एवं प्रतिक्रिया देश-काल की सीमाओं को तोडती हुई मानवीयता के उच्चतम स्तरों को छूती है । होरी टूटकर बिखर जाता है तो गोबर संघर्ष का दिया हाथ में लेता है । लेकिन थके हुए गोबर की परंपरा को आगे बढने की प्रेरणा देने के उद्देश्य से एक नन्हे से दीपक को

प्रेमचंद ने जन्म दिया है जिसका नाम है "मनोज" । भारतीय जन-जीवन की आस्था का स्वरूप और उसकी प्रतिबद्धात्मक भूमिका मनोज जैसी नई पीढी के हाथों में सौंपकर आगे की कहानी की दिशा का भी निर्धारण प्रेमचंद ने किया है । इस तरह होरी से मनोज तक चल पडने वाली तीन पीढियों की कहानी अंधविश्वास से प्रगति की ओर और प्रगति से मानववाद की ओर बढ़ने की प्रेरणा की रजत-रेखा है ।

समस्याओं के प्रति अभिव्यक्त प्रतिक्रिया

सृजनात्मक साहित्य का समाज से पृथक कोई अस्तित्व नहीं है और समाज के अन्दर मानवीय संवेदनाओं के जागरण कराने में ही उसकी प्रासंगिकता है । सृजनात्मक साहित्यकार हमेशा समाज का सूक्ष्म निरीक्षक होता है और समाज में व्याप्त सूक्ष्म अन्तर्द्वन्द्वों को अपने में समाहृत करता है । इन सूक्ष्म अन्तर्द्वन्द्वों को साहित्यकार अपनी लेखकीय संवेदना के आधार पर मानवीय परिवेश में प्रस्तुत करता है और इस प्रकार श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि होती है । लेखकीय संवेदना की तीव्रता को ही श्रेष्ठ साहित्य की कसौटी माना जा सकता है । इस लेखकीय संवेदना को स्थापित करने में समाज में व्याप्त सूक्ष्म अन्तर्द्वन्द्वों का बडा ही महत्वपूर्ण स्थान है । वास्तव में साहित्यकार को लेखन का मर्म इस अन्तर्द्वन्द्व से प्राप्त होता है । अतः किसी भी रचना में एक सामाजिक या वैयक्तिक अन्तर्द्वन्द्व, संघर्ष या समस्या निहित रहती है जिससे रचनाकार को रचना की प्रेरणा मिलती है ।

इन अन्तर्द्वन्द्वों या समस्याओं को - चाहे वैयक्तिक हो या सामाजिक, लेखकीय संवेदना के आधार पर साहित्यिक अभिव्यक्ति देते वक्त साहित्यकार को कभी-कभी अपने व्यक्तित्व से पूर्ण रूप से तटस्थ रहना असंभव है । अतः साहित्यकार उन समस्याओं के प्रति अपनी वैयक्तिक प्रतिक्रिया को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अभिव्यक्ति देता है । रचना में वह प्रतिक्रिया सहज रूप से आ जाती है यदि रचनाकार उसे स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्ति नहीं देता है या किसी विशिष्ट प्रभाव के कारण कृत्रिम अभिव्यक्ति देता है तो उस रचना में अस्वाभाविकता आ जायेगी और प्रबुद्ध पाठक उसे स्वीकारने से इन्कार कर देगा । अतः श्रेष्ठ

साहित्यकार का यह दायित्व बन जाता है कि वह अपनी रचना को कृत्रिमता से बचाये रखें । इसलिए लेखक के लिए यह अनिवार्य है कि वह अपनी रचना की मूल समस्याओं के प्रति अपनी वैयक्तिक प्रतिक्रिया को प्रतिबद्धात्मक दृष्टि से अभिव्यक्त करें । लेखक की इस प्रतिबद्धात्मक दृष्टि यदि मानवीयता पर आधारित हो तो वह रचना उत्कृष्ट एवं उदात्त होगी । "लेखक गलती कर सकते है, लेकिन मनुष्य से उनकी मूलभूत प्रतिबद्धता, मनुष्य के कल्याण की उनकी चिंता, जो लेखक होने के नाते उनकी प्रकृति का अनिवार्य तत्व है, उनमें से ज्यादातर को गलत होने से बचा लेती है ।"[1]

प्रेमचंदजी के हिन्दी साहित्य में पदार्पण करते वक्त भारतीय समाज अनेक जटिल अन्तर्द्वन्द्वों से गुजर रहा था । उन्होंने उन सामाजिक अन्तर्द्वन्द्वों को अपनी लेखकीय दृष्टि में समाहृत करके जो साहित्यिक रूप दिया, वह आज भी हिन्दी साहित्य में अपना अनुपम स्थान रखता है । उन समस्याओं के प्रति उन्होंने अपनी स्वाभाविक प्रतिक्रिया भी बडी कुशलता से व्यक्त की है । प्रेमचंदजी के संदर्भ में ऐसा कहा जाता है कि वे पहले एक सुधारक थे और बाद में साहित्यकार । कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेमचंदजी की दृष्टि प्रारंभ से ही समाज-हित की भावना से ओत-प्रोत थी और उनकी समाज-हित की भावना विशिष्ट समाज के संकुचित दायरों को पार कर विश्व-मानवता के व्यापक क्षितिजों से जुडने वाली थी । अतः हम कह सकते है कि उनकी रचना की लेखकीय दृष्टि समाज-हित की भावना से प्रेरित होकर विश्व-मानवीयता के व्यापक आयामों से जुडने वाली प्रतिबद्धात्मक दृष्टि है । इसे पूर्ण रूप से समझने के लिए समसामयिक समस्याओं के प्रति उनकी प्रतिक्रिया का विश्लेषण करना अनिवार्य है ।

---

1. भीष्म साहनी - अपनी बात - पृः 141.

समस्याओं के प्रति प्रतिक्रिया

प्रेमचंद युगीन समाज एक अत्यंत विशृंखलित अवस्था को प्राप्त कर चुका था क्योंकि तत्कालीन समाज पर दृष्टिपात करते वक्त हमारे सामने समाज का एक अत्यंत घिनौना एवं कुत्सित रूप उभर आता है । समाज आन्तरिक एवं बाह्य दोनों तरफ से टूट रहा था । समाज अनेक प्रकार की कुप्रथाओं से ग्रस्त था तथा नारी की दशा अत्यंत शोचनीय बन चुकी थी । दासता-जन्य मानसिकता से राजनैतिक स्थिति भी अति दारुण थी । किसान अपनी हीनता की परकाष्ठा पर थे और मज़दूरों की दशा भी दिन-प्रतिदिन गिरती जा रही थी । जनता में आध्यात्मिक स्फूर्ति जागरित कराने में धर्म भी अपने खोखलेपन को व्यक्त कर रहा था । इन सभी समस्याओं की जड़ सामाजिक व्यवस्था की तहों में छिपी हुई थी ।

कुप्रथाओं के विरुद्ध संघर्ष

तत्कालीन सामाजिक व्यवस्थाओं पर विचार करते समय समाज में व्याप्त कुप्रथाएँ सर्वप्रथम आती हैं । अंग्रेज सरकार की भेद-भाव मूलक नीति के कारण समाज जाति, धर्म एवं सम्प्रदायों के बीच जर्जरित हो रहा था । जाति एवं धर्मों में परस्पर फूट पैदा करने की नीति का संचार अंग्रेजों ने यहाँ किया था जिसका सबसे बडा शिकार भारतीय समाज ही था । इन विघटित धर्मों एवं जातियों ने अपने अलग-अलग अस्तित्व बनाये रखने के लिए अनेक प्रथाओं एवं संस्कारों का संचालन किया जो आगे चलकर कुप्रथाओं एवं कुसंस्कारों का रूप धारण कर गया था । हिन्दू समाज अपनी जटिल वर्ण-व्यवस्था एवं कुप्रथाओं के कारण दिन-प्रतिदिन जर्जरित हो रहा था । इससे समाज में व्याप्त एकता-भाव विलीन हो गया था और जनता में आपस में वैर एवं विद्वेष प्रस्फुटित होने लगा था । धार्मिक एवं साम्प्रदायिक झगडे होने लगे और अंत में भारतीय समाज का ढाँचा भी टूट-फूट कर विच्छिन्न होने लगा । समाज में

अनेक प्रकार की सामाजिक एवं धार्मिक कुप्रथाएँ चल पडीं । इसका एकमात्र शिकार गरीब भारतीय जनता ही थी । क्योंकि समाज के धनी वर्ग या तो शोषण के आधार पर इन समस्याओं पर विजय प्राप्त कर लेते थे या समाज एवं धर्म के इन दायरों के परे होते थे । प्रेमचंदजी इन सामाजिक विसंगतियों से भली-भाँति अवगत थे और उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा समाज को विशेषकर गरीब जनता को इन सामाजिक विसंगतियों से बचने की प्रेरणा दी । उन्होंने वर्णगत एवं जातिगत समस्याओं के खोखले पन को निरीह जनता के सामने रखकर उसमें निहित स्वार्थ एवं शोषण की भावना का पर्दाफाश किया । सामाजिक कुप्रथाओं और विसंगतियों पर उनका दृष्टिकोण मानवीयता पर आधारित प्रतिबद्धात्मक दृष्टिकोण है क्योंकि मानव हित को दृष्टि में रखकर ही उन्होंने इन समस्याओं के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है ।

उदाहरण के रूप में तत्कालीन समाज में ही नहीं, आज के समाज में भी व्याप्त सामाजिक कुप्रथा दहेज की समस्या को ही लें । "सेवासदन" में कृष्णचन्द के परिवार एवं "निर्मला" में बाबू उदयभानु के परिवार, दोनों के सर्वनाश का कारण समाज में प्रचलित यही कुप्रथा है । और इसकी झाँकी "गोदान" में भी मिलती है । कुल मिलाकर देखने पर प्रेमचंदजी की संपूर्ण रचनाओं में इस कुप्रथा की किसी न किसी पक्ष का दुष्परिणाम अवश्य देखा जा सकता है । इसके प्रति प्रेमचंदजी की प्रतिक्रिया मानवतावादी है । क्योंकि इस समस्या की दुष्परिणति से समाज को अवगत कराकर वह समाज के सामने यह प्रश्न चिह्न लगाते है कि यह विवाह रूपी संस्कार क्या एक सौदा है[1] प्रेमचंदजी के अनुसार समाज को इस कुप्रथा से बचाने का एक ही उपाय है - समाज को प्रबुद्ध करना । साम्प्रदायिकता की समस्या पर भी प्रेमचंद का यही दृष्टिकोण हम देख सकते है । "प्रेमाश्रम" के ख्वाजा महमूद का अपने परम मित्र यशोदा नन्दन की, साम्प्रदायिकता के कारण मृत्यु देखकर विह्वल होकर फूट पडना वास्तव में मानव की मूलभूत मानवीय चेतना का चीत्कार है । इस प्रकार सभी सामाजिक विसंगतियों और कुप्रथाओं पर प्रेमचंदजी की दृष्टि मानवीयता पर आधारित प्रतिबाद्धात्मक दृष्टि थी - यह निर्विवाद है ।

गरीबी की समस्या पर प्रतिक्रिया

प्रेमचंद युगीन समाज की सबसे भीषण समस्या थी गरीबी । भारत की अस्सी प्रतिशत जनता कृषि पर आधारित जीवन बिताती थी, पर शेष बीस प्रतिशत की पूर्ति के लिए फसल उपजाना ही उनका दायित्व था । समाज का शोषक वर्ग इन गीरब किसानों का रक्त चूसकर ही मोटा बना हुआ था । फसल काटने पर जमींदार, महाजन, साहुकार एवं कारिन्दे वर्ग खेत से ही अनाज को ले जाता था और गरीब किसान दिन-प्रतिदिन भूखे-मरने को विवश थे । इस दर्दनाक स्थिति को प्रेमचंदजी ने "गोदान" में धनिया के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त किया है - "अपने विवाहित जीवन के इन बीस बरसों में उसे अच्छी तरह अनुभव हो गया था कि चाहे कितनी ही कतर-ब्योंत करो, कितना ही पेट तन काटो, चाहे एक-एक कौडी को दाँत से पकडे, मगर लगान बेबाक होना मुश्किल है । जिस गृहस्थी में पेट की रोटियाँ भी न मिलें, उसके लिए इतनी खुशामत क्यों[1]"।

यह दारुण स्थिति धनिया-होरी की ही नहीं, देश के अस्सी प्रतिशत किसान की थी और धनिया का यह आक्रोश सारे भारतीय किसानों का चीत्कार है । वास्तव में भूखे पेट के सामने धर्म, नीति या आदर्श की कोई प्रासंगिकता नहीं है । भूख के सामने धर्म और उसकी स्वप्निल और सुनहरी कल्पनाएँ भी परास्त हो जाती हैं जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण प्रेमचंदजी की "कफन" आदि कहानियों में हम देखते है ।

इस प्रकार प्रेमचंद युगीन समाज में अधिकांश लोग इस गरीबी के कारण आजीवन तडपते रहते थे । शोषक वर्ग अपनी स्वार्थवृत्ति के कारण शोषितों पर ओर अधिक शोषण कर रहा था और शोषकों के इन दारुण पंजों से किसानों और

---

1. गोदान - पृ: 1.

मज़दूरों को बचाने या यहाँ तक कि उन्हें गरीबी से छुडाने के लिए कोई भी सामाजिक व्यवस्था नहीं थी । इधर हम प्रेमचंद की मानवीयता के प्रति प्रतिबद्ध दृष्टि देख सकते है । प्रारंभ में मन परिवर्तन द्वारा इन शोषकों से गरीबों की रक्षा दिखाने वाले प्रेमचंद बाद में इस आदर्श से विचलित होकर प्रगतिवादी बन जाते हैं । लेकिन वह किसी वाद विशेष के प्रभाव के कारण नहीं है - "प्रेमचंद का कम्यूनिज़्म केवल यही है कि हमारे देश में जमींदार, सेठ आदि जो कृषकों के शोषक है, न रहें । कम्यूनिज़्म के साथ प्रेमचंद के मन का इतना ही मेल है । इसके आगे नहीं । वे एक शोषण हीन समाज को स्थापना चाहते हैं, बस, अन्यथा न आर्थिक नियतिवाद में उन्हें विश्वास है और न ही वे अर्थ को जीवन को मूल प्रेरक मानते है ।"[1] मनुष्य को अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति पाने का एक मानवीय अधिकार है और वह अधिकार गरीबों को दिलाने के लिए वे आवाज़ उठाते हैं । यह आवाज़ उनके सभी उपन्यासों में गूँजती है विशेषकर गोदान, प्रेमाश्रम और कर्मभूमि में ।

विधवा एवं वेश्या समस्या पर प्रतिक्रिया

प्रेमचंद युगीन समाज में भारतीय नारी की स्थिति अत्यंत दारूण थी और अहं-ग्रस्त पुरूष वर्ग के सामने वह केवल भोग का एक खिलौना मात्र बन गयी थी । प्रेमचंद प्रारंभ से ही नारी की इस दर्दनाक विवशता से उसे मुक्त करने के लिए आवाज़ उठाते थे । भारतीय नारी समाज को सबसे अधिक ग्रसने वाली एक समस्या थी विधवा समस्या । इस प्रथा की मूलभूत जड दहेज प्रथा में विलीन है क्योंकि दहेज देने में असमर्थ बनने पर माँ-बाप कन्या को किसी न किसी बूढे के गले मढ़ देते थे और उस पति की मृत्यु थोडे ही वर्षों में हो जाती थी । ऐसी स्थिति में वह नव युवति को समाज के सामने विधवा का रूप धारण करना पडता था । ऐसी स्त्री को न ससुराल वाले चाहते थे और न पिता के घर वाले । उसे समाज का उपहास-परिहास सहकर एवं सामाजिक अन्यायों को मूक वाणी से झेलकर अपनी जिन्दगी बिताना पडता है । शारीरिक कमजोरियाँ आ पडने पर समाज के किसी न किसी कोने में अंधेरी का

---

1. राजेश्वर गुरू - प्रेमचंद एक अध्ययन - पृ: 100.

अनुभव करते हुए उसे अपनी जिन्दगी बितानी पडती थी । अनमेल विवाह इस समस्या को बढावा देता है । उनको रचनाओं में अनमेल विवाह के ज्वलंत प्रतीकों के रूप में "निर्मला" की निर्मला है, सेवासदन की सुमन है, "गोदान" की रूपा है और "गबन" की रतन आदि हमारा विशिष्ट ध्यान आकर्षित करती हैं । "प्रतिज्ञा" संपूर्ण रूप से समाज में व्याप्त विधवा समस्या को लेकर चलती है और विधवा समस्याओं से पीडित नारी के रूप में "प्रतिज्ञा" की पूर्णा हमारे सामने आती है ।

इसके समान ही समाज को कुत्सित बनाने वाली एक ओर नारी समस्या है वेश्या समस्या जिसका भी मूल-कारण बेमेल विवाह और दूषित सामाजिक परिस्थितियों में हम ढूँढ सकते है । बेमेल विवाह में पति-पत्नी के बीच की विभिन्न मानसिकता एवं शारीरिक भिन्नता के कारण दोनों एक दूसरे से अलग होना चाहते है और परित्यक्ता पत्नी का वेश्या बनना स्वाभाविक ही है । बेमेल विवाह के कारण विधवा बनने पर उसे भी वेश्या बनने को समाज मज़बूर करता है । दूषित सामाजिक वातावरण में जीने वाली नारियों की वेश्या बनने को संभावना अधिक है । विधवा अपने ही घर में श्रम बेचकर अपना पेट-भरने की कोशिश करती है, पर जब उसे परिवार से पेट-भर रोटी नहीं मिलती, तब जीविका के लिए अपने शरीर बेचने को वह विवश हो जाती है । विधवा का वेश्या बनने का एक ओर कारण है । वह अपनी जवानी में ही विधवा बन जाती है और उसे पुनः विवाहित जीवन की कोई संभावना नहीं रहती, तब वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य पुरुषों के पास जाने को विवश होती है जिसकी स्वाभाविक परिणति उसे वेश्या बनाती है । वेश्या समस्या पर विचार करते वक्त इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को नकारा नहीं जा सकता । अपनी विवशता के कारण वेश्या बनने वाली अनेक नारियों का चित्र प्रेमचंदजी की रचनाओं में सर्वत्र बिखरा पडा है ।

नारी-संबंधी इन दोनों समस्याओं पर प्रेमचंद को दृष्टि मानवतावादी है । प्रेमचंद यह मानते थे कि विधवा और वेश्या दोनों समाज की इकाइयाँ है और उनका विधवा या वेश्या बनने का दायित्व उन पर नहीं, समाज पर है । अतः उन्हें

सुधारने का दायित्व भी समाज को लेना है । नारी के प्रति प्रेमचंद की प्रतिबद्धता इतनी गहरी थी कि मानवीय स्तर पर उसकी रक्षा करना वह मनुष्य मात्र का धर्म मानते थे । वेश्याओं के लिए सदन एवं विधवाओं के लिए पुनः विवाह की संकल्पना उनकी प्रतिबद्धता का श्रेष्ठतम उदाहरण है । इसको केवल आदर्श कहकर ठुकराना उचित नहीं है । परंतु जब नारी की रक्षा के साधनों में अधूरापन दिखाई पडने लगा तो उसे अपने पैरों पर ही खडे होने का आह्वान देना प्रेमचंद के लिए अत्यंत स्वीकार्य बन गया । इस कारण नारी-जागरण की भावना को सेवासदन की सुमन, कर्मभूमि की सुखदा, गबन की जालपा, प्रतिज्ञा की पूर्णा आदि पात्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया है

प्रेमचंद अपनी मानवतावादी दृष्टि के कारण प्रारंभ से लेकर अंतिम रचना तक नारी में आदर्श भारतीय नारी की परिकल्पना को चरितार्थ करने का प्रयत्न करते है । नारी में नारी-सहज ममता, करुणा, दया, सेवा, त्याग, परोपकार आदि गुणों का समर्थन करते हैं जिससे पुरुष उसे भोग का खिलौना न समझकर आदर की मूर्ति समझें । इस मानवतावादी या आदर्शवादी दृष्टि के कारण ही उन्होंने अपने अंतिम उपन्यास गोदान में नारी के प्रति अपने दृष्टिकोण को मेहता के द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया है - "नारी केवल माता है और उसके उपरान्त वह जो कुछ है, वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र । मातृत्व संसार की सबसे बडी साधना, सबसे बडी तपस्या, सबसे बडा त्याग और सबसे महान विजय है ।"[1] और आगे कहते है कि "वह देह की वस्तु नहीं, आत्मा की वस्तु है । वह सम्पूर्ण आत्म-समर्पण है । उसके मन्दिर में तुम परीक्षक बनकर नहीं, उपासक बनकर ही वरदान पा सकते है ।"[2]

यदि नारी के प्रति समाज उपर्युक्त दृष्टिकोण को अपनाता है तो समाज में कोई नारी-समस्या नहीं उठेगी । यह कुछ अति आदर्शवादी एवं काल्पनिक प्रतीत होता है, पर प्रेमचंद का विचार यह है कि संपूर्ण समाज का नारी के प्रति जो दृष्टिकोण है, उसमें परिवर्तन आये बिना कभी भी समाज से विधवा या वेश्या समस्या का उन्मूलन असंभव है ।

---

1. गोदान - पृः 200.
2. वही - पृः 315.

अतः कुल मिलाकर देखने पर हम यह कह सकते है कि प्रेमचंदजी ने नारी समस्याओं के प्रति मानवीयता पर आधारित प्रतिबद्धात्मक दृष्टि को अपनाया है। उन्होंने किसी भी नारी-पात्र को चाहे वह विधवा हो या वेश्या, पूर्ण रूप से पतित नहीं दिखाया है। उनमें भी मानवीय गुणों को जागरित कराकर उचित वातावरण में उनका सुधार दिखाया है। सेवासदन की सुमन, गबन की जोहरा जैसे पात्र इसके ज्वलंत दृष्टान्त है।

अन्ध-विश्वासों के विरुद्ध आवाज़

प्रतिबद्ध साहित्यकार समाज में व्याप्त बुराइयों, अंध-विश्वासों और विसंगतियों के विरुद्ध अपनी आवाज़ को बुलंद कर जनता को उन सामाजिक त्रुटियों से उबारने का प्रयत्न करता है। प्रेमचंद-युगीन समाज में व्याप्त अनेक सामाजिक समस्याओं की मूल जडें धार्मिक अंध-विश्वासों और भ्रष्टाचारों में हम ढूँढ सकते है। धर्म का वास्तविक रूप तिरोहित हो गया था और केवल ढकोसला मात्र रह गया था। धर्म जनता में आध्यात्मिक स्फूर्ति जागरित करने के स्थान पर भय को जागरित करके उन्हें दोनों हाथों से लूटने का एक मशीन मात्र बन गया था। धार्मिक आचार्य अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए अंधविश्वासों को बढावा देता था और अशिक्षित भारतीय जनता—विशेषकर किसान वर्ग-इन अंधविश्वासों के दूषित जालों से कभी भी बचती नहीं थी। वास्तव में धार्मिक आचार्य आम जनता की अशिक्षा का फायदा उठाकर उनका निर्मम शोषण करने के उपाय के रूप में अंध-विश्वासों का प्रचलन कर रहे थे।

प्रेमचंदजी के उपन्यासों में इन अंध-विश्वासों के कारण जनता में उद्भूत भिन्न-भिन्न परिवर्तनों एवं दुःख-दर्दों की सफल अभिव्यक्ति मिलती है। धर्म के ठेकेदार पंडा-पुरोहित वर्ग ने धर्म को एक पाखंड मात्र बना दिया था जिसकी सूचना सेवासदन से लेकर गोदान तक हमें मिलती है। जाति-पाँति एवं अछूत समस्याओं को

समाज में बनाये रखकर समाज के उच्च वर्ग या ब्राह्मण लोग अपनी सत्ता को बनाये रखते थे । पूजा-स्नान तीर्थाटन आदि कुरीतियों को धर्म ही प्रश्रय देता था । "गोदान" तक आते-आते धर्म का रूप और भी भ्रष्ट हो गया था और यहाँ तक कि आजीवन भूखे-नंगे किसान को मृत्यु पर जबर्दस्त गोदान कराना भी धर्म के नाम पर ही था । "गोदान" में होरी की त्रासदी का एक कारण उसकी धर्म-भीरुता है । पंडित दातादीन चौगुने सूद पर गरीब किसानों को लूटने वाला साहूकार है और उसे इस काम में धर्म भी सहायता देता है । इसका स्पष्ट उदाहरण हमें होरी की मानसिक स्थिति के चित्रण से मिलता है - "होरी के पेट में धर्म की क्रांति मची हुई थी । अगर ठाकुर या बनिये के रुपये होते, तो उसे ज्यादा चिंता न होती, लेकिन ब्राह्मण के रुपये ! उसकी एक पाई भी दब गयी तो हड्डी तोडकर निकलेगी । भगवान न करें कि ब्राह्मण का कोप किसी पर गिरें । बंस में कोई चिल्लू-भर पानी देने वाला, घर में दिया जलाने वाला भी नहीं रहता । उसका धर्म-भीरू मन त्रस्त हो उठा । उसने दौडकर पंडितजी के चरण पकड लिए और आर्त स्वर में बोला- महाराज, जब तक मैं जीता रहूँ, तुम्हारी एक-एक पाई चुकाऊँगा । लडकों की बात पर मत जाओ ।"[1]

होरी अपने अंधविश्वास के कारण ही भ्रष्टाचारी पंचों द्वारा लगाये ठाये जुर्माने को अपने परिवार को महीनों गरीबी में धकेल कर भी शिरोधार्य करके चुकाता है । अंधविश्वास के आधार पर होने वाले शोषण का सबसे भयानक रूप गोदान के अंत में होरी की मृत्यु पर हम देखते हैं । गोदान की माँग करते हुए पंडित दातादीन मृत होरी के पास खडे हैं और धनिया अपनी आजीवन की भूख सहकर कमाये बीस आने पैसे दातादीन को सौंपती है और पछाड खाकर वह भी गिर पडती है - अंध-विश्वास के नाम पर होने वाले शोषण का इससे भयानकतम रूप हम कहाँ देख सकते हैं[2]

---

1. गोदान - पृ: 221.

इस प्रकार मानवतावादी कलाकार प्रेमचंदजी ने अपने उपन्यासों द्वारा धर्म एवं अंध-विश्वासों के खोखलेपन को समाज के सामने खुलकर दिखाया है और समाज को इन धार्मिक शोषकों और शोषणों से सतर्क किया है । अपनी मानवीयता पर आधारित प्रतिबद्धता के कारण ही उन्होंने धर्म के नाम पर होने वाले इन अत्याचारों के विरुद्ध अपनी सशक्त वाणी को मुखरित किया है ।

शोषण के विरुद्ध आवाज

प्रेमचन्दजी की सम्पूर्ण रचनाओं को शोषण-ग्रस्त भारतीय समाज के दारुण चीत्कार की संज्ञा देने में कोई आपत्ति नहीं है । शोषण से पीडित भारतीय समाज को उसकी दयनीय अवस्था से उबारने का दायित्व अपने ऊपर लेकर ही वे साहित्यिक क्षेत्र में उतरे थे । प्रेमचंद युगीन समाज चारों तरफ से शोषण में फँसा हुआ था । अंग्रेज़ शासकों द्वारा भारत का राजनैतिक एवं आर्थिक शोषण हो रहा था । यहाँ के जमींदार, महाजन, साहुकार, कारिन्दे, पूँजीपति एवं सामाजिक एवं धार्मिक नेता वर्ग भी अंग्रेजों के इस शोषण-चक्र को भारत के गाँव-गाँव तक फैलाने में योगदान देते रहे । अंग्रेज़ी शासन की इस शोषण नीति का सबसे बडा शिकार भारत का गरीब अशिक्षित किसान वर्ग था । किसानों पर ये शोषक-वर्ग मनमानी ढंग से अपना शोषक-चक्र चलाते थे । लगान वसूल करने में कोई निश्चित मानदंड नहीं था और बेइमानी से कई बार लगान वसूल भी किया जाता था । इन निष्ठुर शोषकों के हाथों से अपने पेट-भरने का अनाज भी बचा पाने में किसान असमर्थ रहते थे । वास्तव में भारतीय किसान अक्सर कर्ज में जन्म लेकर, कर्ज के लिए जीकर अगली पीढी को वही कर्ज सौंपने को अभिशप्त था ।

शहरों में मज़दूर वर्ग की हालत भी इससे बहतर नहीं थी । उद्योगपति उनका खून-चूसकर ही दिन-प्रतिदिन मोटे बन रहे थे । यह पहले उल्लेख किया है कि नारी-वर्ग भी इन निर्मम शोषण-चक्रों में बुरी तरह फँसा हुआ था । समाज में मध्यवर्ग भी अक्सर इन शोषणों में फँसा हुआ था और दिन-प्रतिदिन मध्यवर्ग के लोग विघटित होकर निम्न वर्गीय बन रहे थे ।

अपनी मानवीय दृष्टि के कारण प्रेमचंदजी इन शोषकों को समाज

अपनी मानवीय दृष्टि के कारण प्रेमचंदजी इन शोषकों को समाज से उखाड फेंकना चाहते थे और इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही उन्होंने साहित्यिक रचना शुरू की थी । अपनी समस्त रचनाओं में उन्होंने शोषण के विभिन्न आयामों को दिखाया है और उसके विरुद्ध सामाजिक चेतना जागृत कराने के लिए अपनी प्रतिबद्धात्मक दृष्टि को पाठकों के सामने रखा है । "सेवासदन" से लेकर "गोदान" तक की समस्त रचनाओं में उन्होंने किसानों पर होने वाले अत्याचारों की सफल अभिव्यक्ति दी है । उनके गोदान प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि आदि उपन्यासों में किसानों की विवशता उभर आयी है । इनमें सर्वश्रिष्ठ है गोदान जिसे भारतीय कृषक जीवन का महाकाव्य कहा गया है । उसका नायक होरी आज भी भारतीय समाज में जीवित है । मज़दूरों की दीन-हीन दशा पर भी गोदान में गोबर के चरित्र द्वारा चित्रण हुआ है और यह दिखाया है कि मज़दूर वर्ग भी किस प्रकार पूँजीपतियों और उद्योगपतियों के द्वारा शोषण का शिकार बना हुआ है । नारी एवं मध्यवर्ग दोनों पर होने वाले अत्याचारों से प्रेमचंद का सम्पूर्ण साहित्य भरा पडा है ।

अपनी मानवीयता पर आधारित प्रतिबद्धात्मक दृष्टि के कारण प्रेमचंदजी हमेशा शोषण के विरुद्ध लडते हैं और अपनी रचनाओं में इन शोषकों से पीडित मानवीयता को उबारने का प्रयत्न करते रहे । मानवीय दृष्टि में मानव ही सबसे महान है चाहे धनी हो या गरीब, उच्च वर्ग का हो या निम्न वर्ग का । समाज में हर व्यक्ति को समान अधिकार प्राप्त कराने का दायित्व सभी मनुष्यों पर है । वस्तुतः शोषितों को शोषकों के कराल हाथों से बचाना साहित्यकार का ही नहीं, समस्त मानवता का कर्तव्य है । एक साहित्यकार के रूप में प्रेमचंदजी ने अपना यह दायित्व सफल रूप से निभाया है । अपने इस दायित्व से समाज को अवगत कराने के लिए प्रेमचंदजी ने अपनी अंतिम रचना गोदान के अंत को समाज के सामने खुला छोडा है ।

मानसिक परिवर्तन पर आधारित जीवन-मूल्यों का निर्धारण

मानव पर अपनी अटल आस्था के कारण प्रेमचंदजी को हम निर्विवाद रूप से मानवतावादी कह सकते है । उनके लिए मानव ही सबसे महान है और मानवीयता से गिरना सबसे हेय भी । मानव पर अपनी इस अटल आस्था के कारण वे किसी को पूर्ण रूप से मानवीयता से रिक्त नहीं मानते । मानव मन के भीतर जो दानवता है, उस पर मानवता की विजय दिखाना सभी मानवीयता के प्रति प्रतिबद्ध कलाकार के लिए अनिवार्य है ।

मानव मन में पशुत्व के स्थान पर देवत्व को प्रतिष्ठित करना प्रेमचन्दजी अपनी साहित्यिक साधना मानते थे और इसी वजह से अपनी अधिकांश रचनाओं में कुपात्रों के चरित्र में भी मानवीयता को जागरित किया है । उनकी प्रारंभिक रचनाओं के संदर्भ में यह प्रवृत्ति हम विशिष्ट रूप से देख सकते है । इस प्रवृत्ति के लिए उनकी आदर्शवादी दृष्टि भी पर्याप्त मात्रा में सहायक सिद्ध हुई है । उनकी प्रारंभिक रचनाओं में विशेषकर सेवासदन, प्रेमाश्रम, गबन, कर्मभूमि, कायाकल्प आदि उपन्यासों में यह प्रवृत्ति विशिष्ट रूप से द्रष्टव्य है । सेवासदन की नायिका सुमन मूल रूप से पतित चरित्र नहीं है पर परिस्थितियों के दुष्प्रभावों के कारण वह वेश्या का पतित जीवन बिताने लगती है । तब भी उसमें सद्वृत्तियों का अंकुर हम देख सकते है । अंत में सुमन के अन्दर दानवता के स्थान पर मानवता की विजय दिखायी गयी है । सुमन अपने कुकर्मों पर पश्चाताप करती है और सेवा, त्याग, दया एवं प्रेम की प्रतिमूर्ति के रूप में हमारे सामने आती है । वहाँ उसके जीवन-मूल्यों को मानसिक परिवर्तन के द्वारा निर्धारित दिखाया गया है । "सेवासदन" में सुमन के पति गजाधर का भी - जो हीनता - भाव से उद्भूत मानसिकता की सभी बुराईयों से ग्रस्त है, मानसिक परिवर्तन हो जाता है । वह अपने पापों पर पश्चाताप करके एवं मानवीयता से प्रभावित समाज-सेवक बनकर नया जीवन जीने लगता है ।

इस मानसिक परिवर्तन का एक अविश्वसनीय एवं गैर-मनोवैज्ञानिक रूप हम प्रेमाश्रम के ज्ञानशंकर में देख सकते है, जो पूँजीवादी एवं जमींदारी व्यवस्था की सभी बुराइयों से घिरा हुआ है । अपने पुत्र मायाशंकर से प्रभावित होकर ज्ञानशंकर का मानसिक परिवर्तन होता तो है, परंतु उसकी अचानक आत्म-हत्या एक ऐसी गुत्थी है जो समझ में नहीं आती । मायाशंकर अपने पूर्वजों के कुकर्मों के प्रायश्चित के लिए जमींदारी व्यवस्था से उसे प्राप्त सारी सम्पत्ति को गरीब किसानों के बीच बाँटता है । इसके अन्य जमींदारों में भी यह मानसिक परिवर्तन द्रष्टव्य है । परंतु प्रेमचंद का यह दृष्टिकोण न तो स्वाभाविक है और न मनोवैज्ञानिक ही ।

"कायाकल्प" को देवप्रिया भी प्रारंभ में गरीब इंसान का खून चूसकर विलासपूर्ण एवं वासना-ग्रस्त जीवन बिताने वाली पतित नारी है । पर अंत में मानसिक परिवर्तन से उसका भी चारित्रिक सुधार हो जाता है । इस उपन्यास में चक्रधर का भी मानसिक परिवर्तन होता है । प्रारंभ में सत्ताधारी बनने पर वह अपनी सभी मानवीय पक्षों से वंचित हो जाता है, परंतु धीरे-धीरे उसमें भी मानसिक परिवर्तन आ जाता है और सत्ता को त्यागकर समाज-सेवा में संलग्न हो जाता है । साम्प्रदायिकता की विषैली हवा लग जाने के कारण ख्वाजा महमूद और बाबू यशोदानन्दन - दोनों शत्रु बन जाते हैं, पर साम्प्रदायिक दंगे में यशोदानन्दन की मृत्यु हो जाने पर महमूद पश्चाताप करता है और साम्प्रदायिकता से अपने को बचा लेता है ।

मध्य-वित्त परिवारों को झूठी शान एवं खोखलेपन की स्पष्ट अभिव्यक्ति देने वाली रचना "गबन" में भी अंत में सब पात्र मानसिक परिवर्तन के द्वारा आदर्शवादी बन जाते हैं । नायक रमानाथ अपनी ही चारित्रिक कमजोरियों के कारण जीवन में कुमार्गों को स्वीकारने को अभिशप्त है, पर अंत में पत्नी जालपा के प्रभाव से उसका मन परिवर्तन हो जाता है और यहाँ तक कि वह पुलिस के प्रलोभनों को ठुकराकर अपना बयान बदलता है तथा निर्दोष अभियुक्तों को छुडा लेता है । उपन्यास के अंत में जालपा की मानसिकता भी बदल जाती है और

वह भी सेवा, त्याग, सत्य, अहिंसा आदि का पालन करती हुई समाज सेवा में जुड जाती है । इस पर सन्देह तो अवश्य किया जाता है, पर जोहरा जैसे पतित वेश्या को भी सही मार्ग में प्रवेश करते हुए प्रेमचंद ने दिखाया है । जोहरा यहाँ तक बढ़ जाती है कि वह आदर्श जीवन को अपनाती हुई त्याग के रास्ते से गुजरती है । मानसिक रूप में यह परिवर्तन "गंबन" के रतन, देवीदीन जैसे पात्रों में भी स्पष्ट परिलक्षित होता है ।

"कर्मभूमि" में भी मन के परिवर्तन के आधार पर चारित्रिक सुधार लाने का प्रयास दिखाई पडता है । इस उपन्यास का नायक अमरकांत आदर्शवाद का प्रति-रूप बनकर आता है, परंतु उसका वैयक्तिक जीवन अनैतिकता का पर्यायवाची है । अंत तक आते-आते उसमें भी सुधार होने लगता है । प्रारंभ में अपनी विवाहित पत्नी सुखदा को त्यागकर सकीना एवं मुन्नी के प्रति आकृष्ट अमरकांत अंत में जेल वास के समय कालेखाँ के प्रभाव से सुधर जाता है और सच्ची निष्ठा के साथ समाज-सेवा में जुड जाता है । इस उपन्यास के अन्य पात्र भी अपने अपराधों के प्रायश्चित करके सेवा-मार्ग में प्रवेश करते हैं ।

"प्रतिज्ञा" शीर्षक उपन्यास में नायक अमृतराय का विधवा समस्या को सुलझाने के मोह में अपनी प्रेमिका प्रेमा को त्यागकर विधवा पूर्णा के प्रति आकृष्ट हो जाना भी प्रेमचंद के मानसिक परिवर्तन पर आधारित विशिष्ट-दृष्टिकोण का परिचायक है । साथ ही प्रेमा भी अमृतराय से प्रभावित होकर दीननाथ से शादी कर लेती है । कथावस्तु के संगठन में अस्वाभाविकता अवश्य है, पर मन परिवर्तन के द्वारा इसमें भी जीवन-मूल्यों को निर्धारित होते दिखाया है ।

संक्षेप में कह सकते है कि प्रेमचंदजी की अधिकाँश प्रारंभिक रचनाएँ आदर्शवाद से प्रेरित इस मानसिक परिवर्तन पर आधारित है । परंतु अंतिम रचनाओं में अपनी यथार्थवादी दृष्टि के कारण एवं आदर्शवाद के खोखलेपन से परिचित होने के

कारण इस मानसिक परिवर्तन पर आधारित जीवन-मूल्यों पर अधिक जोर नहीं दिय गया है । लेकिन कुल मिलाकर देखने पर मानवीयता के प्रति प्रतिबद्ध साहित्यकार प्रेमचंदजी में मानव के प्रति अपनी आस्था सुदृढ़ है । इन प्रारंभ कालीन रचनाओं में प्रेमचंदजी की सामाजिक प्रतिबद्धता अपनी साहित्यिक प्रतिबद्धता से कहीं अधिक मुखर हुई है । साहित्य के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को नकारते हुए भी उन्होंने अपनी रचनाओं में सामाजिक प्रतिबद्धता को महत्वपूर्ण स्थान दिया है, यद्यपि ऐसा करते स कहीं-कहीं स्वाभाविकता को तिलाँजलि देनी पडी हो ।

प्रतिबद्धता और समय-सापेक्ष्य निर्णय

लेखकीय प्रतिबद्धता पर गहन एवं सूक्ष्म रूप से विचार करते समय हमें ऐसा लगता है कि उसे अंतिम रूप में किसी भी सीमा-रेखा के अन्दर समेटना समीचीन नहीं है । क्योंकि लेखक कभी भी प्रतिबद्धता के अंतिम स्वरों का विधाता नहीं होता और प्रतिबद्धता काल, देश, परिस्थिति एवं मानवीय दृष्टि के आधार पर ही स्थापित होती है । किसी एक देश की अमुक काल में घटित परिस्थितियों के प्रति लेखकीय दृष्टि के आधार पर उद्भूत प्रतिक्रिया है प्रतिबद्धता । अतः प्रतिबद्धता का काल, देश, परिस्थिति एवं दर्शन के अनुसार परिवर्तित होना स्वाभा है । युग-परिवर्तन के साथ ही साथ आत्म-निष्ठ प्रतिबद्धता में, वाद-विवादों से प्रेरित प्रतिबद्धता में, साहित्यिक प्रतिबद्धता में, सामाजिक प्रतिबद्धता में और यहाँ तक कि मानवीयता पर आधारित प्रतिबद्धता में भी परिवर्तन आ जाता है । अतः प्रतिबद्धता को किसी भी ढाँचे के अन्दर ढालकर उसे चिर-स्थाई मानना समीचीन नहीं होगा ।

उपर्युक्त तथ्य से अवगत जागरूक साहित्यकार अपनी रचनाओं में प्रतिबद्धता के अंतिम शब्दों को मुखरित नहीं करते और अपनी रचनाओं में संघर्ष को समय के साथ जोडकर प्रतिबद्धता को स्वयं स्थापित होने के लिए छोड देते हैं । इस कारण आज की अधिकांश रचनाओं में रचना के अंतिम स्वरूप को खुला हुआ छोडने य

पाठक या समाज पर सौंपने की प्रवृत्ति हम देख सकते है । परंतु यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि मानवीयता पर आधारित प्रतिबद्धता में भी सूक्ष्मतम दृष्टि से देखने पर परिवर्तन थोडी मात्रा में अवश्य आता है, पर अपने व्यापक परिवेश के प्रभाव के कारण यह प्रतिबद्धता चिर-स्थाई बने रहने में पर्याप्त मात्रा में सफल होती है ।

सजग साहित्यकार प्रेमचंदजी की कुछ रचनाओं में विशेषकर अंतिम रचनाओं में हम यह प्रवृत्ति देख सकते है । गोदान, निर्मला, रंगभूमि आदि उपन्यासों में और कफन, पूस की रात आदि कहानियों में प्रेमचंदजी ने अमुक समाज के वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन को अपनी सभी विसंगतियों और विडंबनाओं के साथ निर्मम रूप से यथार्थवादी ढंग से चित्रित किया है । पर इन रचनाओं का अंत सीमाबद्ध नहीं है । सामाजिक एवं वैयक्तिक अन्तर्द्वन्द्वों और अन्तर्विरोधों को सूक्ष्मतम दृष्टि से अभिव्यक्ति तो दी है, पर लेखक ने अपनी अंतिम प्रतिक्रिया को अभिव्यक्ति नहीं दी है । लेखक ने जीवन की निर्मम वास्तविकताओं को दिखाकर या जटिल परिस्थितियों से पाठक को अवगत कराकर उसे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने को विवश किया है ।

प्रतिबद्धता के संबंध में प्रेमचंदजी का यह मोह बहुत ही अर्थ-संपुष्ट है । उनका अंतिम उपन्यास गोदान में भारतीय किसान का प्रतिनिधि पात्र होरी अपने जीवन में परिस्थिति-जन्य विडंबनाओं और विवशताओं से संत्रस्त होकर, एक गाय पालने की मामूली सी ख्वाहिश को अधूरा छोडने को एवं आर्थिक वैषम्य की पराकाष्ठा पर अपनी बेटी को भी दो सौ रुपये पर बेच डालने को अभिशप्त है । जीवन की सब अरमानों से वंचित रहने पर भी वह अपनी आस्थावादी दृष्टि एवं जिजीविषा के कारण हड्डी-तोड परिश्रम करता है और अंत में असफल दम तोडता है । गोदान की सम्पूर्ण त्रासदीय परिस्थितियों को स्थापित करने में समाज ही जिम्मेदार है । प्रेमचंदजी ने संघर्ष को समय के साथ जोडकर उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति दी है, पर इस संघर्ष के प्रति अपनी प्रतिक्रिया को व्यक्त नहीं किया है । उसे स्वयं स्थापित होने के लिए समाज पर ही छोड दिया है ।

इसी प्रकार "रंगभूमि" उपन्यास में भी रचना के अंतिम प्रभाव को समाज पर ही छोडा है । सूरदास की मृत्यु के बाद भी उद्योगपति जॉन सेवक अपने कारखाने लगाने में तल्लीन है । किसी व्यक्ति की मृत्यु और बलिदान नशीले कारखाने के बनने में कोई बाधा नहीं डालती । परंतु अंतिम प्रतिक्रिया उस समाज का दायित्व है जहाँ यह कारखाना बनता है । "निर्मला" शीर्षक उपन्यास में भी रचना के अंत को खुला हुआ छोडा और समाज को प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए आदेश दिया है । इस प्रकार प्रतिबद्धता को समय-सापेक्ष्य तथ्यों से जोडकर फिर एक बार प्रेमचंदजी ने प्रतिबद्धता के नये अर्थ को सूचित किया है ।

प्रेमचंदजी को कुछ कहानियों में भी हम यह प्रवृत्ति देख सकते है, विशेषकर "कफन", "पूस की रात" आदि में । समाज के अर्थ मूलक यथार्थ के कई जटिल आयामों को एक साथ उद्घाटित करने वाली कहानी "कफन" में प्रेमचंदजी ने यह दिखाया है कि समाज में किस प्रकार आर्थिक वैषम्य धार्मिक और नैतिक मान्यताओं पर विजय प्राप्त करता है । भूख के सामने धर्म, नैतिकता सब खोखले साबित होते हैं । सामाजिक दुर्व्यवस्था के कारण घीसु और माधव दोनों अकर्मण्यता की पराकाष्ठा पर है, यहाँ तक कि वे प्रसव-वेदना से पीडित बुधिया के चीत्कार को भी नज़र-अन्दाज़ करते हैं । "लगता है कि गरीब को दुनिया में सब कुछ गौण है, प्रसूति में चिल्लाने और अंत में दम तोड जाने वाली पत्नी गौण है, पिता-पुत्र और पति-पत्नी का रिश्ता भी गौण है, भुने हुए दो आलू सबसे अधिक महत्व रखते है । यह वह दुनिया है जहाँ भूख ने सभी मूल्यों को असंगत बना दिया है । इस वातावरण में उतरने पर प्रेमचंद पाते हैं कि भद्र समाज में पाये जाने वाले मूल्यों का यहाँ कोई अर्थ नहीं रह गया है ।"[1] बुधिया की मृत्यु से अपनी गर्भस्थ शिशु की भी मृत्यु होती है, जो उनकी भविष्य की संभावनाओं का प्रतीक है । पर वे दोनों भविष्य के विचार से भी प्रभावित नहीं हैं । एक दूसरी दृष्टि से देखने पर बुधिया की मृत्यु मानवीयता को किसी गहरे अंश की मृत्यु है, क्योंकि युगों से संचित मानवीयता की छाप हम

---

1. भीष्म साहनी - अपनी बात - पृ: 88.

उसी में ही देखते है । इन सभी बातों से अवगत घीसु और माधव दोनों फिर भी अकर्मण्य हैं । उन्हें खेती से वंचित कर मज़दूर बनाने का और मज़दूर से चोर एवं उपजीवि बनाने का श्रेय समाज को ही प्राप्त है । उपजीवि बनकर वे अपनी नैतिकता, धार्मिकता एवं मानवीयता को खो रहे हैं - उसके लिए भी समाज ही जिम्मेदार है ।

"पूस की रात" कहानी में हल्कू अपनी कर्मण्यता की परकाष्ठा पर है, पर सामाजिक दुर्व्यवस्था के कारण पेट-भर रोटी से वह वंचित है । कर्मण्यता की चरम सीमा को छूने पर भी पेट-भर रोटी का प्रबंध जिस सामाजिक व्यवस्था में नहीं है, वहाँ कर्मियों का अकर्मण्यता को ओर प्रवृत्त हो जाना स्वाभाविक है । इस अकर्मण्यता के कारण वह जानवरों से अपनी खेत की रक्षा तक नहीं करता । इस प्रकार इन कहानियों में भी प्रेमचंदजी ने समय के साथ संघर्ष को जोडकर प्रतिबद्धता को स्वयं स्थापित होने के लिए छोड दिया है ।

प्रतिबद्धता के संबंध में उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिबद्धता को स्वयं स्थापित होने के लिए छोड देना ही सामाजिक प्रतिबद्धता के प्रति उन्मुख लेखक का धर्म है । लेखकीय धर्मिता समय को विशिष्ट प्रहारों से और सामाजिक संदर्भों के गहरे गर्भ से जन्म लेने वाली प्रतिक्रिया पर किसी भी प्रकार को पूर्वसंकल्पना प्रस्तुत नहीं कर सकती । यह एक ऐसी उदात्त मान्यता है जो प्रेमचंद को कई रचनाओं में प्रतिबद्धता के स्वरों को समाज-सापेक्ष्य एवं समय सापेक्ष्य बना देती है ।

पाँचवाँ अध्याय

सामाजिक जीवन-बोध और मानवीय संकट का चित्रण-गोर्की में

साहित्यिक क्षेत्र में "मैक्सिम गोर्की" के नाम से विख्यात अलक्सेई मार्क्सिमोविच पेशकोव रूसी साहित्य की ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व-साहित्य की एक महान प्रतिभा है। उनकी प्रतिभा सर्वतोन्मुख थी और उन्होंने साहित्य की सभी प्रमुख विधाओं - कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, रूपचित्र, आलोचना आदि सभी क्षेत्रों में कालजयी कृतियों का सृजन किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में पूर्ण रूप से स्वतंत्र नव-मानव के प्रेरणादायक चित्रों को उभारा है। साहित्यिक क्षेत्र में उन्होंने समाजवादी-यथार्थवाद का बीजारोपण किया जो आगे चलकर विश्व के सभी देशों के प्रगतिशील एवं जनवादी साहित्यकारों का मार्ग-दर्शक बना।

मानव पर अपनी अनन्य आस्था के कारण वे आज भी विश्व के सबसे महान मानवतावादियों में अपना अनुपम स्थान रखते है। विश्व-साहित्य में सर्व-प्रथम श्रम को अपनी रचनाओं का केन्द्र-बिंदु बनाने के कारण उनको श्रम का पहला चितेरा नाम भी दिया गया है। समाजवादी-यथार्थवाद का संस्थापक होने के कारण उन्हें "सोवियत साहित्य का जनक" भी माना जाता है। जीवन के सबसे निचले तल से प्रारंभ करके गरिमा की इतनी श्रेष्ठता को प्राप्त करने वाले साहित्यकार विश्व में ही बहुत कम होंगे। सोवियत देश के पहले शिक्षा-मंत्री अनातोली लुनाचार्स्की का यह कथन यहाँ उल्लेखनीय है - "मैक्सिम गोर्की के भाग्य, उनके व्यक्तित्व की सबसे लाक्षणिक और विलक्षण बात तो सतत् ऊपर को उठती हुई वह रेखा है जो हमारे समाज के बहुत ही नीचे बिंदु, लगभग तल से, जैसा कि क्रांतिपूर्व का रूस था, आरंभ होती है और उन शिखरों को जा छूती है जिन्हें विश्व इतिहास में बहुत कम लोग ही छू पाये है।"[1]

---

1. इटली की कहानियाँ - मैक्सिम गोर्की - अनुवादक मदन लाल मधु - प्राक्कथन - पृ: 2.

एक निम्न से निम्नतम रूसी परिवार में जन्म लेकर, बचपन से ही माँ-बाप से वंचित होकर, प्राथमिक शिक्षा तक पाने में असमर्थ और आठ वर्ष की उम्र में जीविकोपार्जन के लिए सडक की गंदी गलियों में भटकने को अभिशाप्त गोर्की का व्यक्तित्व आज भी विश्व के सामने एक आश्चर्यजनक पहेली है। आठ साल की उम्र से आवारा बनकर भटकने वाले गोर्की को जीवन में बहुत कुछ देखने, परखने और समझने का सुअवसर मिला था। बचपन से ही रूसी जीवन के प्रत्येक पहलू को, हर स्पन्दन को वे भली-भाँति जानते थे - चाहे उच्च वर्ग से संबंधित हो, मध्यवर्ग से या निम्न या निम्नतर वर्ग से। इसका कारण यह था कि उन्हें इन सबों के बारे में वैयक्तिक अनुभव था जिसे उन्होंने जिन्दगी की किताबों से सीखा था। गोर्की की प्रतिभा को जानने या उनकी कृतियों को भली-भाँति समझने के लिए यह जानना अवश्यक है कि किन-किन परिस्थितियों ने गोर्की की महान प्रतिभा की सृष्टि की है। इसके लिए तत्कालीन रूस की परिस्थितियों से परिचित होना अनिवार्य है।

गोर्की का समय

श्रेष्ठ साहित्यकार कभी भी अपनी युगीन परिस्थितियों से बच नहीं सकता और उसकी प्रतिभा को स्थापित करने में तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का योगदान निर्विवाद है। गोर्की की प्रतिभा भी तत्कालीन परिस्थितियों से स्थापित हुई है। "गोर्की" शब्द का अर्थ है कटु, तिक्त या तीखा। तत्कालीन रूसी समाज ने ही उसे कटु या तिक्त बना दिया था।

समाज अपनी निम्नतम स्थिति को पा चुका था और आम जनता चारों तरफ से अन्याय एवं अत्याचारों से पीडित थी। देश में प्रचलित निरंकुश तानाशाही शासन और सामंती-पूँजीवादी व्यवस्था के कारण जनता की स्थिति दिन - प्रतिदिन बिगडती जा रही थी। धर्म भी अपने श्रेष्ठ लक्ष्यों से विचलित होकर जनता के खून चूसने में लगा हुआ था। इस प्रकार गरीब जनता सब प्रकार के अत्याचारों को सहने के लिए अभिशाप्त थी। इन अमानवीय परिस्थितियों को भली-भांति समझने के लिए प्रत्येक सामाजिक पहलू का विश्लेषण अनिवार्य है।

ज़ार का शासन

रूसी इतिहास का अध्ययन करते समय हमें यह पता चलता है कि प्रारंभ से ही रूस में राजकीय शासन प्रणाली प्रचलित थी और नवीं शताब्दी में "राजा कीव् रज़" का ईसाई धर्म स्वीकार करने से प्रशासनिक कार्यों में ईसाई धर्म का भी हाथ आ गया था । राजा धर्म की आड़ में निरंकुश शासन करते थे और गरीब जनता हमेशा इससे पीडित रहती थी । राजा के इस निरंकुश शासन के संदर्भ में एक लोकगीत प्रचलित था -

"यदि उसके पास धन नहीं, तो वे उसकी संतान को छीन लेंगे ।
यदि उसकी संतान न हो तो वे उसकी पत्नी को छीन लेंगे ।
यदि उसकी पत्नी भी न हो, तो उसे ही गुलाम बनायेंगे ।।"[1]

राजा का तानाशाही शासन क्रूरताओं का पर्याय बनकर चलता था और जो भी व्यक्ति उसके खिलाफ आवाज़ उठाता था, उसे निर्मम रूप से मिटा दिया जाता था । किसानों की क्रांति होती थी, पर उसे भी बेरहम दबाया जाता था । "क्रांतिकारियों से ज़ार और सामंत क्रूर प्रतिशोध लेते थे । कोडा लगाकर उनकी हत्या किया करते थे, दायें और बायें सिर उडाये जाते थे, फाँसी का तख्ता हर चौराहे पर खडा किया जाता था । किसान नेता "स्टिफान राज़िन" को निर्मम प्राणदंड दिया गया । लेकिन इन सभी क्रूरताओं से किसान दबाये नहीं गये, यद्यपि क्रांति खून की नदी में डुबाया गया तो भी किसान अपनी क्रांति से विचलित नहुए ।"[2]

---

1. "If he has no money, they will take his child,
   If he has no child, they will take his wife,
   If he has no wife, a slave of him they'll make.
   By - S. Alexeyev - A short history of U.S.S.R. - p.14.

2. The tzar and the landowners took cruel revenge on the insurrectionists. They were whipped to death, heads flew, sight and left, gallows were erected in all the squares. The peasant leader Stephan Razin was brutually executed. But all that cruelty could not suppress the peasants, even though the insurrection was drowned in a bath of blood, the peasant riot did not stop - Ibid. p.26.

1547 में ईवान चौथे ने अपने को ज़ार राजा स्वयं घोषित किया था और तब से 1917 की अक्टूबर-क्रांति तक ज़ारशाही का निरंकुश तानाशाही शासन रूस में चलता रहा ।

कहने का तात्पर्य यह है कि रूसी जनता शताब्दियों पहले से ही राजकीय शासन के निष्ठुर हाथों में आ फँसी थी और राजाओं और अधिकारियों के निरंकुश शासन के विरुद्ध आवाज़ उठाती थी, क्रांतियाँ करती थी । पर शासक अपने निष्ठुर हाथों से इन्हें दबाते थे । सामाजिक व्यवस्था भी शासकों के अनुकूल थी । समाज में विभिन्न श्रेणियाँ थीं जैसे उच्च वर्ग, बुद्धिजीवि वर्ग, मध्यवर्ग, निम्न वर्ग आदि । इसमें सत्ताधारी उच्चवर्ग हमेशा शासकों के साथ होता था क्योंकि इससे दोनों को फायदा मिलता था । शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवि एवं मध्यवर्ग राजा के विरुद्ध विद्रोह करने में असमर्थ रहे क्योंकि उनके नेताओं को राजा आसानी से खत्म कर देते थे । निम्न वर्ग के किसान और मज़दूर-दोनों अशिक्षित थे और एक क्रांति के द्वारा अपने अधिकारों को पाने का सपना तक नहीं देख सकते थे ।

संक्षेप में हम यह कह सकते है कि ज़ारशाही के निरंकुश शासन के कारण देश में चारों तरफ आतंक छाया हुआ था । देश में उभरने वाली क्रांति के प्रत्येक स्पन्दन को राजा तक पहुँचाने के लिए "जन्डारम" नामक गुप्तचर विभाग की भी स्थापना की गयी थी । इससे राजा को प्रारंभ में ही क्रांति को दबाना आसान हो गया था । इसका नतीजा यह हुआ कि देश की राजनैतिक स्थिति अत्यंत दारुण बन गयी । साधारण जनता को राजनीति में भाग लेने का कोई हक नहीं था जिसके कारण गरीब जनता का दुःख-दर्द राजा तक पहुँच भी नहीं सकता था । राजा के इस निरंकुश शासन व्यवस्था को बनाये रखने में ईसाई धर्म भी अपनी भूमिका निभाता रहा । धर्म ने राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि घोषित किया था और उसके आदेशों का पालन करने के लिए जन-साधारण को विवश कर दिया था । अशिक्षित जनता में इससे राजा के प्रति एक भय-भक्ति-भाव जागृत हुआ । "ये लोग "मालिकों" के अधिकार को वैध समझते थे, इसलिए नहीं कि "जिसकी लाठी, उसकी भैंस होती है

या धन-सम्पत्ति जिसके कब्जे में हो, कानून भी उसकी मुट्ठी में होता है, बल्कि गिरिजाघर के प्रभाव के कारण भी, जो यह सिखाता था कि "धनी व्यक्ति ईश्वर के आगे ही उत्तरदायी होता है, या यह कि "धनी लोग ही यश और सम्मान के अधिकारी होते है ।"[1]

ज़ारशाही शासन की निरंकुशता के खिलाफ उन्नीसवीं शताब्दी में दो क्रांतियाँ हुई थी । प्रथम क्रांति 1825 की "दिसम्बरवादी" विद्रोह है जो मुख्य रूप से कुलीन बुद्धिजीवियों और फौजी अफसरों का विद्रोह था । इस क्रांति को बडी निष्ठुरता से दबा दिया गया । और दूसरी क्रांति "नरोदवादियों" की थी जिसका साधारण जनता से गहरा संबंध था । लेकिन 1874 में इसके एक हज़ार नेताओं को गिरफ्तार करके इसे भी दबाया गया । पर इस गिरफ्तारी से नरोदवाद को पूर्ण रूप से देश से हटाने में ज़ार शासन असफल रहा । गोर्की भी इस नरोदवाद से काफी प्रभावित थे ।

संक्षेप में ज़ार शासन जन-विरोधी शासन था । आम जनता शोषण की चक्की में पिस रही थी और अल्प संख्यक शोषक वर्ग गरीब जनता के खून चूसने में लगा हुआ था । इस अमानवीय शासन प्रणाली में स्वतंत्रता नामक कोई चीज़ नहीं रह गयी थी ।

शोषण-नीति और जन-जीवन

शोषक द्वारा शोषितों पर किये जाने वाले शोषण के कई आयाम होते हैं, जैसे शासक द्वारा शासितों पर शोषण, सामंतों और पूंजीपतियों द्वारा किसानों और मज़दूरों का शोषण, उच्च वर्ग द्वारा निम्न वर्ग का शोषण, धर्म एवं नारी के नाम पर शोषण आदि । शोषण के इन आयामों का सबसे बडा शिकार साधारण गरीब जनता रही है ।

---

1. मैक्सिम गोर्की - व्यक्तित्व का विघटन - अनुवादक - शिवदान सिंह चौहान - पृ: 115.

गोर्की के समय का रूस भी शोषण के इन आयामों से पूर्ण रूप से जकडा हुआ था । शासक वर्ग धर्म एवं समाज के उच्चवर्ग की आड़ में गरीब जनता को दोनों हाथों से लूट रहे थे । आम जनता अशिक्षित थी जिसके कारण शासक अपनी शोषण-नीति आसानी से चला सकते थे । जनता से लगान आदि बडी निर्ममता से वसूल किया जाता था यद्यपि रोजी रोटी तक उन्हें हासिल न थी । देश के नव-जवानों को जबर्दस्त सेना में भर्ती कराकर उनका भी शोषण किया जाता था ।

कृषि के क्षेत्र में भी पूँजीवादी तत्व उभरने लगे थे और बडे किसान छोटे किसानों को हडपना शुरू किया था । इसका नतीजा यह हुआ कि "छोटे किसान अपनी जमीन बेचकर सर्वहारा बनने और अपनी रोजी कमाने के लिए शहरों के कारखानों फैक्टरियों की ओर भागने लगे ।"[1] पूँजीवाद के विकास के कारण बडे पैमाने के उत्पादन ने छोटे पैमाने के उत्पादन का सर्वनाश किया जिससे छोटी पूँजी वाले दस्तकर एवं कारोगर भी अपने उद्योगों को छोडकर शहरों के मज़दूर बनने को विवश हुए । मज़दूरों की वृद्धि से पूँजीपति और भी फायदा उठाते थे क्योंकि बेरोजगार मज़दूर कम से कम वेतन पर अधिक से अधिक समय काम करने को विवश थे ।

गाँवों में बचे हुए किसान भी पूँजीवादी शोषण के इन निष्ठुर पंजों से मुक्त नहीं थे । अति उत्पादन, बाजार की मंदी आदि पूँजीवाद का दुष्परिणाम किसानों पर भी आ पडता था । पूँजीपति वर्ग इससे लाभ उठाकर मज़दूरों का अमानवीय शोषण करते थे । "काम के दिन जो पहले से ही बहुत लंबे होते थे, और बढा दिये गये तथा 18 घंटे तक चलते थे, मज़दूरी बहुत कम दी जाती थी और उसका अधिकतर भाग जुर्मानों के रूप में काट लिया जाता था । मज़दूरों को कारखाने के मालिकों की दूकानों से सौदा खरीदने के लिए विवश किया जाता था और वहाँ बाज़ार-भावों की तुलना में कहीं अधिक कीमतें ली जाती थी ।"[2]

---

1. मदनलाल मधु - प्रेमचंद और गोर्की-दो अमर प्रतिभाएँ - पृ: 123.
2. वही - पृ: 125.

समाज की वास्तविक आर्थिक स्थिति यह थी और इस सामंतवादी यंत्रवादी पूँजीवादी व्यवस्था के निष्ठुर हाथों से बच निकलना गरीब किसानों और मज़दूरों के लिए असंभव था ।

तत्कालीन रूसी समाज में नारी की स्थिति अत्यंत शोचनीय थी । वह चारों तरफ से शोषण का शिकार बनी हुई थी । समाज में पुरुष जाति के आधिपत्य के कारण उसे समुचित, आदर भी नहीं मिलता था । गोर्की की 'विश्वासाघात' नामक कहानी - जो अपने वैयक्तिक अनुभव पर आधारित है - इसकी गवाही है । एक दिन गोर्की ने अपनी आँखों से यह देखा था कि पत्नी के चरित्र पर सन्देह होने से पति उसे पूर्ण रूप से नंगी करके गाडी के तख्तों में बाँधकर उसे कोडे लगाकर सारा शहर घुमा रहा था । जब गोर्की ने उस स्त्री को बचाने का आह्वान किया तब चारों तरफ इकट्ठी भीड़ गोर्की की खूब पिटाई करके उन्हें बेहोश कर दिया । इस घटना से पता चलता है कि रूसी महिला का उस समाज में कोई विशेष महत्व नहीं था । समाज में निम्न परिवारों की नारियों का ही सबसे अधिक शोषण हो रहा था और अक्सर उन्हें जीविका के लिए गलियों में जाकर शरीर बेचना पडता था ।

वास्तव में दमन और शोषण-नीति पर आधारित निरंकुश ज़ारशाही शासन से साधारण जनता तडप रही थी और पूँजीवाद ने इस उत्पीडन को ओर भी तीव्र बना दिया था । इससे जनता में निराशा छा गयी थी और वे कुंठा-ग्रस्त जीवन बिताने लगे थे । तत्कालीन रूस में धर्म भी जनता की आध्यात्मिक एवं नैतिक उन्नती के लिए न रहकर उसे भौतिक रूप से लूटने का एक माध्यम-मात्र रह गया था । समाज में व्यक्ति-जीवन का कोई मूल्य नहीं था जैसे कि हम गोर्की के उपन्यास "माँ" में देखते है । हत्या की जाने पर छानबीन तक नहीं होती, पर गैर-कानूनी पर्चा रखने से गिरफ्तार करके सैबीरिया भेज दिया जाता था । वास्तव में देश में सर्वत्र अराजकता छायी हुई थी । समाज में व्याप्त इन विषैली परिस्थितियों के कारण जनता में मूल्य-शोषण भी जन्म लेने लगा था । "ज़ारों के शासन काल में रूसी प्रजा

शासनिक निरंकुशता और शोषण के भयंकर चक्र से पिसी जा रही थी । जन-विकास के आधार मानव-मूल्य जर्जर हो चुके थे । रूस के सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन कुंठा-निराशा के अंधकार में संस्कार की शक्ति खोकर बडी विपन्न अवस्था में था । पतन की इस अवस्था में साधारण जन समुदाय जड़ संतोष को लेकर अपने भाग्यवादी निष्क्रिय दृष्टिकोण को संतुष्ट कर रहा था । वर्षों से आत्म-विश्वास और निजी शक्ति की आस्था को खोकर सामान्य जीवन परंपरागत सडी-गली मान्यताओं को जीवन दर्शन मानकर अपना बलिदान कर रहा था ।"[1]

किसानों को मज़दूर बनाने और उनकी तबारू की कहानी को तेज करने में रूस में होने वाली औद्योगीकरण की नीति ने नई भूमिका अदा की थी । शहरों के अभावग्रस्त जीवन में मज़दूरों की स्थिति गली के कीडों से बहत्तर नहीं थी । कारखानों में बच्चों और स्त्रियों से कठिन काम कराते थे ।

सामाजिक अत्याचार एवं अन्याय के साथ व्यक्ति जीवन की अभावग्रस्तता भी जुडने से पारिवारिक जीवन में भी दुःख और निराशा छायी रहती थी । इससे उत्पन्न ऊब को मिटाने के लिए लोग अक्सर शराबों का शरण लेते थे । जनता की नैतिक गिरावट का भी एक मुख्य कारण यही था । नशे में डूबे पति के द्वारा जब परिवार में रोटी का प्रबंध न होने पर नारियों को गली में आकर वेश्या बनना पडता था । "मानवी संबंध धीरे-धीरे नष्ट होने लगे । मनुष्य मात्र एक यंत्र बन गया और उसका मूल्य धीरे-धीरे क्षीण होता गया । एक घुटन जीवन की हर स्वस्थ व्यवस्था को निर्दय होकर नाश कर रही थी । घरों में स्त्रियाँ यातना और गलियों में वेश्याओं का जीवन जी रही थी ।"[2]

---

1. डॉ. रमाकांत शर्मा - समाजोन्मुख यथार्थवादी काव्य - पृ: 40.
2. वही ।

संक्षेप में रूसी समाज तत्कालीन शासकों के शोषण के अलावा उच्च वर्ग और धार्मिक वर्ग के भी शोषण का शिकार बने थे। परिणामस्वरूप रूस का साधारण किसान बडे किसानों से मज़दूर बन गया और आगे इस तरह मुड़ गया कि औद्योगीकरण की प्रक्रिया के शुरू होने से नगरों की ओर मज़दूर बनकर पलायन करने के लिए मज़बूर किया गया था। इस तरह जन-जीवन का आर्थिक ढाँचा चकनाचूर हो गया था। इस हालत में जनता निराशा की खाई में गिर पडी थी। उधर शिक्षा के अभाव में अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होने का कोई भी अवसर उन्हें प्राप्त नहीं हुआ था। स्वतंत्रता के, मानवीय अधिकारों के, दया और करुणा के दीपकों को बुझा पाकर वास्तव में गोर्की-कालीन रूसी समाज गहरे अंधकार में दिशाहीन होकर भटक रहा था।

रूसी जीवन की इन विसंगतियों, विभीषिकाओं और अंतर्विरोधों की जीवंत झलक हम गोर्की की रचनाओं में देख सकते है। आठ वर्ष की उम्र से आवारापन की जिन्दगी बिताने वाले गोर्की रूसी जीवन की इन वास्तविकताओं से खूब परिचित थे। देश में व्याप्त इन वैषम्यों का वे खुद अनुभवी थे। भूख मनुष्य को कहाँ तक ले जाता है, उससे भी वे भली-भाँति परिचित थे। उनके 'माँ' जैसे उपन्यासों में रूस के इस सामाजिक वैषम्य की सूक्ष्मतम झलक अवश्य उभरती है।

एक नई सामाजिक व्यवस्था का स्वप्न

समाज के कुत्सित एवं घिनौने स्वरूप के विरुद्ध आवाज बुलंद करना एक सजग कलाकार की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। समाज को श्रेष्ठ बनाने के अपने दायित्व से कलाकार कभी भी बच नहीं सकता। उत्पीडित जनता को शाश्वत सुख एवं शांति प्रदान करना साहित्यकार का मौलिक कर्तव्य है। रूसी साहित्यकारों के लिए यह तत्व अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध होता है।

रूसी समाज में व्याप्त विसंगतियों एवं अन्तर्विरोध का मूल कारण तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था ही थी । साहित्यकार इससे पूर्ण रूप से अवगत भी थे । अतः साहित्यकार के मन में अपनी साहित्यिक निष्ठा के फलस्वरूप तत्कालीन समाज की सामाजिक व्यवस्था पर परिवर्तन लाने की वाँछा उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था । सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाये बिना जन-जीवन में सुधार लाना असंभव था । अतः रूस के साहित्यकार सहज ही सामाजिक परिवर्तन का स्वप्न देखते थे ।

परिवर्तन का यह स्वर पुश्किन से ही प्रारंभ हुआ था । पुश्किन एक कुलीन परिवार की सब सुख-सुविधाओं के बीच जन्मे थे, पर तत्कालीन समाज में व्याप्त सामाजिक विसंगतियों के विरुद्ध उन्होंने डटकर आवाज़ उठायी । वहीं से गोगेल, तालस्तोय, तुर्गनेव, दोस्तोविस्की, चेखव आदि सबों ने अपनी रचनाओं द्वारा प्रचलित सामाजिक व्यवस्था के प्रति विरोध प्रकट किया था । सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाना सब अनिवार्य मानते थे पर हरेक अपने-अपने वैयक्तिक दर्शन के अनुसार उसे मोडना चाहता था । परिवर्तन की दिशा के संदर्भ में मतभेद अवश्य था ।

मैक्सिम गोर्की सामाजिक वैषम्य एवं विसंगतियों के स्वयं शिकार थे जिससे उनकी रचनाओं में यह सामाजिक परिवर्तन की ललक अत्यंत तीव्र है । गोर्की सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाकर समाजवादी समाज की स्थापना करना चाहते थे जिससे समाज के अशिक्षित, गरीब, निम्न जनता के जीवन में परिवर्तन एवं प्रगति की स्वर्णिम किरणें आ सकें ।

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक शोषण का स्वर
गोर्की के उपन्यासों में

विश्व के महानतम उपन्यासकारों में मैक्सिम गोर्की अद्वितीय है । उन्होंने अपने उपन्यासों द्वारा मानव जीवन का जो चित्र हमारे सामने प्रस्तुत किया है, वह देश और काल की सीमाओं को लाँघकर शाश्वत मानवीय आदर्श जीवन से जुडने वाला है । उन्होंने अपने उपन्यासों में निम्न स्तर के पात्रों को नायकत्व के पद पर प्रतिष्ठित करके उनमें अन्तर्लीन मानवीयता को जागृत करके उन्हे श्रेष्ठ मानव के पद पर पुनः प्रतिष्ठित किया है । उनके नायक प्रायः संघर्षशील है और सामाजिक अनीतियों और अत्याचारों के विरुद्ध निर्भीकता से युद्ध करना अपना फर्ज मानने वाले भी । "गोर्की का इस बात पर दृढ़ विश्वास है कि मानवीय आत्मा की यह शक्ति जीवन के अन्याय से कभी समझौता नहीं करने देती, चाहे आदमी कितना ही नीचे क्यों न गिर गया हो । और गोर्की जीवन में स्वतः प्रतिवाद, प्रतिरोध की तत्परता और दृढ़ता की उन विशिष्टताओं को ढूँढता है जिनको कि उसने सामान्य रूप में अपने रोमाँटिक चित्रों में प्राप्त कर लिया था ।"[1]

गोर्की ने ही साहित्य में समाजवादी यथार्थवाद का प्रचलन किया था । उनके अनुसार साहित्य में समाज का यथातथ्य चित्रण ही पर्याप्त नहीं है और साहित्यकार को समाज के भविष्य को भी ख्याल में रखकर ही अपनी रचना करनी है । स्वयं गोर्की ने ही कहा है कि "जो है, केवल उसका चित्रण ही काफ़ी नहीं है । हमें यह भी ध्यान में रखना है कि जो हम चाहते है और जिसकी उपलब्धि संभव है ।"[2]

---

1. डॉ. केसरी नारायण शुक्ल-रूसी साहित्य का इतिहास - पृः 167.
2. It is not enough merely to depict already existing things, we must also bear in mind the things we desire and the things which are possible of achievement".
Maxim Gorkey - Literature and Life - p.147.

इससे हमें यह मालूम हो जाता है कि गोर्की अपने उपन्यासों को भविष्य को भी ध्यान में रखकर ही लिखते थे । इसी वजह से उनके नायकों में भविष्य के लिए महत्वपूर्ण संदेश भी निहित है । गतिहीन समाज में गति पैदा करने एवं सुषुप्त मानव में मानवीय चेतना की नव-जागृति उत्पन्न करने में उनके उपन्यास सफल हुए है । इसे पूर्ण रूप से समझने के लिए उनके प्रत्येक उपन्यास का विश्लेषण अनिवार्य है ।

फोमा गोर्दयेव

मैक्सिम गोर्की की औपन्यासिक यात्रा का प्रारंभ "फोमा गोर्दयेव से शुरू होता है । इसमें तत्कालीन रूस के बुर्जुआ वर्ग की कहानी कही गयी है - उसके विकास की, उत्कर्ष की और पतन की । "यह रूसी साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में एक है जिसमें पिता गोर्दयेव, मायकिन एवं स्मोलिन जैसे बुर्जुओं के इतिहास का पर्दाफाश हुआ है, संक्षेप में जिन्होंने विश्वास के साथ यह घोषणा की थी कि "हम देने के लिए जीते नहीं, वरन् लेने के लिए ।"[1] इस रचना के लिखते समय गोर्की वैयक्तिक जीवन में "नरोदवाद" से अलग हो गये थे और परिवर्तन किस दिशा में लाना है, उससे वे अवगत नहीं थे । अतः परिवर्तन लाने के सक्रिय प्रयत्न में वैयक्तिक श्रम को ही इसमें उभारा गया है ।

उपन्यास के नाम से ही यह स्पष्ट है कि इसका नायक फोमा गोर्दयेव है । कथावस्तु का सूत्रपात फोमा गोर्दयेव के पिता इग्नात गोर्दयेव के कारनामों से होता है । उपन्यास के प्रारंभ में एक साधारण नाव का मज़दूर के रूप में गोर्की इसे प्रस्तुत करते है । वह अपनी कठिन मेहनत से अचानक ही संपन्नता के

---

1. "It is one of the greatest works of Russian Literature, unveiling the history of Russian bourgeoisie like the older Gordeyev's, the Mayakins and the Smolins, in short all those who declared with confidence that we live not to give, but to take"- Igor Kravtsov - Foma Gordeyev - Introduction.

शिखरों को छूने लगता है और एक बुर्जुआ बन जाता है । उसकी प्रथम पत्नी सन्तानहीन थी जिससे उसने उसे मार डाला और एक दूसरी से शादी कर ली । वह भी फोमा गोर्दयेव को जन्म देते ही इस दुनिया से चल बसती है । मातृ-स्नेह से वंचित फोमा का पालन-पोषण उसके रिश्तेदार मायकिन के यहाँ होता है । कुछ वर्षों के बीत जाने पर इग्नात उसे अपने घर ले आता है और अपनी कारोबारी का धंधा सिखाता है । लेकिन बचपन से ही एक विशिष्ट मानसिकता का व्यक्ति है फोमा गोर्दयेव । उसमें एक साथ बडे सफल कारोबारी बाप का लक्षण भी है और माँ के स्वभाव का ऊहापोह और असमंजस भी । बडा बन जाने पर फोमा बुर्जुआ समाज के सभी गुणों से भर जाता है, यहाँ तक कि छोटी उम्र में ही वारांगनाओं के साथ संबंध भी जोडता है । पिता की मृत्यु हो जाने पर सम्पूर्ण कारोबारी की जिम्मेदारी उसके सिर पर आ जाती है और मायकिन की सहायता से प्रारंभ में कारोबारी भली-भाँति चलती है ।

समय के बीतने पर फोमा अपने पेशे से ऊब जाता है और इधर-उधर भटकने लगता है । कई वेश्याओं के साथ संबंध में आकर वह अपनी राह खो बैठता है । नशे में डूबकर दूसरों को भी डुबाता है । एक बार एक वारांगना को लेकर फोमा और गवर्नर के कुप्रसिद्ध जामाता के बीच झगडा होता है और फोमा उसे बुरी तरह पीटता है । फोमा को मायकिन छुडा लाता है । फिर भी उसका मन कारोबारी में नहीं लगता और साशा नामक एक वेश्या के साथ ऐशो-आराम में तल्लीन हो जाता है । मायकिन अपनी बेटी ल्यूबा से फोमा की शादी कराना चाहता है, पर फोमा उस पढी-लिखी स्त्री से प्रभावित नहीं हो पाता । फोमा की कारोबारी का धीरे-धीरे पतन होने लगता है और मायकिन उसका फायदा भी उठाता रहता है । इसी बीच फोमा अपने छः साथियों को नदी में डुबाकर मार देता है । पर इसमें भी वह छानबीन से बच जाता है ।

फोमा का आर्थिक पतन होता ही जाता है और वह आन्तरिक और बाह्य-दोनों तरफ से टूट जाता है । मायकिन की बेटी ल्यूबा से वह एक बार तिरस्कृत भी हो जाता है और उसकी दूसरे व्यक्ति स्मोलिन से शादी भी हो जाती है । अपने फिज़ूल खर्च के परिणामस्वरूप वह अंत में बुर्जुआ तक नहीं रह जाता और यहाँ तक गिरता है कि लोग उसे पागल मानने लगते है । वह अपने आन्तरिक द्वन्द्व से अत्यधिक व्यथित होता है । एक दिन बुर्जुओं की एक पार्टी में फोमा वहाँ उपस्थित सभी बुर्जुओं के करतूतों का पर्दाफाश करता है जिससे वे उसे बाँधकर पागलखाने में डाल देते हैं । फोमा की बची हुई सम्पत्ति को मायकिन हडप लेता है । और तीन साल के बाद फोमा वास्तविक रूप में पागल-सा बनकर पागलखाने से निकलता है । अब फोमा नशे में डूबा हुआ है और भोजन के लिए भीख भी माँगता है । चिथडे पहने घूमने वाले फोमा को सिर्फ मायकिन की पुत्री ही अपने खलिहान के नीचे सोने की जगह देती है ।

इस रचना से गोर्की ने सम्पत्ति की गठरी के नीचे दबी हुई मानव आत्मा की बेचैनी को हमारे सामने प्रस्तुत किया है । धन या सम्पत्ति कभी-भी व्यक्ति को शाश्वत सुख या चैन नहीं देती - इस तथ्य को गोर्की ने इस उपन्यास के द्वारा उभारा है । इस उपन्यास की टिप्पणी में कहा गया है - "इस रचना की मूलभूत भावात्मक गति जीवन के प्रति एक असंतोष है, सामाजिक अनीति का एक सूक्ष्म अवबोध है, व्यक्ति की खोज एवं क्रांति के भाव है जिसे हम गोर्की की प्रारंभिक कहानियों में भी देख सकते है ।"[1]

---

1. The basic emotional tenor of the work is a dissatisfaction with life, a sharp awareness of social injustice, man's searchings and spirit of revolt that we find in many of Gorkey's early stories - Foma Gordeyev - Notes - p.306.

गोर्की के समय तक आते ही रूसी पूँजीपतियों में ऐसी एक प्रवृत्ति उभरने लगी थी कि "लौह पुरूषों" में भी कुछ व्यक्ति स्वीकृत आदर्श पर चलना नहीं चाहते थे, उसका विरोध करने लगे थे। इनकी संख्या बहुत कम थी, पर इससे यह आभास होता है कि "जीवन के स्वामी" भी सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन की आवश्यकता महसूस करने लगे थे। गोर्की का ही यह कथन यहाँ उल्लेखनीय है - "उन लोगों के बच्चे, जो अपने लिए 'नार्मल जिन्दगी' के निर्माण में लगे थे, मुझे 'नार्मल' नहीं लगे। निश्चय ही इसका श्रेय उनको ही मिलना चाहिए, लेकिन इससे उनको कोई सुख नहीं मिला। वे अपने को ह्रासवादी कहते थे। मैंने अपने आप से कभी नहीं पूछा कि ये लोग कैसे वसंत के हरकारे हो सकते थे।"[1]

प्रस्तुत रचना से यह स्पष्ट है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में रूस का सामाजिक जीवन असंतोष से भरा हुआ था, सर्वत्र एक ग्लानि छायी हुई थी, यहाँ तक कि मज़दूरों के खून चूसकर 'जीवन के स्वामी' बनने वाले बुर्जुआ समाज में भी। अतः सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाना अनिवार्य बन गया था। शहरों में बढती हुई बेरोजगारी के कारण जहाँ एक ओर मज़दूरों की स्थिति अत्यंत दारुण बनी हुई थी तो दूसरी ओर उनको चूसने वाले फोमा गोर्दयेव जैसे बुर्जुआ वर्ग भी आन्तरिक रूप से टूट रहे थे। बुर्जुआ बन जाने पर मानवीय मूल्यों का ह्रास तो अवश्य होता है, पर सम्पूर्ण विनाश तो नहीं होता। अतः बुर्जुओं में भी अपराध-बोध का जागना स्वाभाविक है। आम तौर पर देखने पर धनी बुर्जुआ वर्ग भी एक विशिष्ट प्रकार की मानसिक व्यथा का शिकार था - एक आन्तरिक क्षुब्धता से जिन्दगी-भर तडपता रहता था।

गरीबों को लूटे बिना या किसी न किसी घोर अपराध किए बिना धनी बनना असंभव है। इससे उत्पन्न पाप-बोध उसे कभी-कभी पागल बनाता है, आत्म-हत्या कराता है या सन्यास ग्रहण करने को विवश करता है। यह

---

1. शिवदान सिंह चौहान - व्यक्तित्व का विघटन - पृः 103.

तत्कालीन बुर्जुआ वर्ग की एक युगीन सच्चाई है । अपने वैयक्तिक और वर्गगत अपराध बोध के कारण फोमा गोर्दयेव चिल्ला उठता है -"किसी की तरफ देखे बिना मैं सत्य की उद्घोषणा करना चाहता हूँ ... मेरा हृदय फट रहा है ... मैंने सबकी गलतियों को महसूस किया है ।"[1]

इसमें चित्रित नारी पात्रों पर विचार करने पर हमें ऐसा लगता है कि रूस में नारी की दशा अत्यंत दारुण थी । उपन्यास के प्रारंभ से ही हम इससे परिचित हो जाते है । इग्नात गोर्दयेव के लिए पत्नियाँ सिर्फ भोग एवं सन्तानोत्पा के उपकरण मात्र है । पहली पत्नी बाँझ होने से उसे मार डालता है और दूसरी की उसकी इच्छाओं की परवाह किये बिना शादी कर लेता है । उसकी रुआँसी पर इग्नात कहता है - "क्या फायदा है? रोना चाहो तो रोओ, पर आँसू कभी भी आग को नहीं बुझायेगी ।"[2] फोमा के जीवन में ल्यूबा को छोडकर आनेवाली सभी लडकियाँ वेश्याएँ है । वे सब सामाजिक-व्यवस्था से पीडित है और अपनी विवशता से मज़बूर भी । फोमा के जीवन में भी वे आती हैं अपनी सुख-सुविधाओं के लिए या स्वार्थ की पूर्ति के लिए । फोमा से ऊब जाने पर वे दूसरों की तलाश में निकल पडती हैं । लगता है कि यह तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का ही अंग है । अक्सर इन नारियों को पतन के गर्त में धकेलने में बुर्जुआ वर्ग ही अधिक दायित्व निभाता है । इस दर्दनाक सच्चाई से अवगत साशा कहती है - "कुछ लोग अपनी गंदगी में भी रेशमी और सन के कपडे पहनने वालों से कहीं अधिक निर्मल है ।"[3]

---

1. फोमा गोर्दयेव - पृ: 297.
2. वही - पृ: 9.
3. Some people are cleaner in their filth than those who wear silks and fine linen - Foma Gordeyev - p.187.

इस उपन्यास में नायक फोमा के चरित्र पर विशेष ध्यान देना अनिवार्य है । गोर्की ने बडी सूक्ष्मता से और स्वाभाविक ढंग से फोमा के चरित्र का विकास दिखाया है । बचपन से ही माँ के प्यार से वंचित फोमा में नारी से प्यार पाने की एक अदम्य लालसा बनी रहती है जो आगे चलकर उसके सर्वनाश का कारण भी बनती है । दूसरी ओर फोमा अपने पिता इग्नात से बुर्जुआ वर्ग के सभी कुचालों से परिचित है और शोषण, अन्याय, अत्याचार और अमानवीयता का सारा पाठ सीखता है । दूसरों के श्रम से अपना जीवन बिताने वाला फोमा श्रम के महत्व से अनभिज्ञ है । एक बार मज़दूरों के साथ श्रम करने पर उसे महसूस होता है कि जीवन में सबसे संतुष्ट क्षण उसे तभी प्राप्त हुआ है । अपने वैयक्तिक जीवन में व्याप्त ऊब को मिटाने के लिए साथियों की निष्ठुर हत्या कराना बुर्जुआ समाज में व्याप्त मानसिक ठिठुराहट का प्रतीक है ।

अन्तर्मन में व्याप्त अपराध-बोध से वह किसी न किसी प्रकार छुटकारा पाना चाहता है । इसका स्वाभाविक परिणाम बुर्जुओं की पार्टी में जाकर अपने ही वर्ग के मुखौटे को फाट डालना है । वह अपने समाज को, विशेषकर बुर्जुआ समाज को परिवर्तित देखना चाहता है, पर वास्तविक क्राँति लाने में वह असफल रह जाता है । "फोमा गोर्दियेव का नायक रोमान्तिक क्राँतिकारी है, जो तत्कालीन सामाजिक व्यवस्थाओं का घोर विरोध करता है, अत्याचारों के विरुद्ध आँधी बन जाता है, फिर भी उसका क्राँति-भाव वास्तविक क्राँति-भाव नहीं है ।"[1]

उसकी पराजय का कारण शायद यह था कि वह क्राँति एक जन-क्राँति नहीं थी, वरन् एक कुंठित आत्मा का दारुण चीत्कार था । वैयक्तिक क्राँति से सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाना असंभव है - यह तथ्य फोमा अपने बुर्जुआ अहं के कारण समझ नहीं सकता था । सत्य के सही पक्ष को न समझ पाना उसकी एक मुख्य चारित्रिक कमजोरी है । - "मेरी आत्मा व्यथित है क्योंकि वह बातें स्वीकारने से इंकार करती है ।"[2]

---

1. डॉ. गणेशन - हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन - पृ: 355.
2. My soul aches because it is not willing to accept things - Foma Gordeyev - p.197.

फोमा गोर्दयेव को हम एक प्रतिनिधि पात्र तो मान सकते है, पर वह अपनी वैयक्तिकता से युक्त पात्र है । उसके चरित्र विकास में मनोवैज्ञानिकता की छाप भी हम अवश्य देख सकते है । वास्तव में गोर्की ने उसे एक त्रासदीय नायक का परिवेश दिया है, जो अपनी चारित्रिक दुर्बलता के कारण उच्चता की परकाष्ठा से नीचे गिरकर अपना कब्र खुद खोदने के लिए अभिशाप्त है । फोमा के इस दारुण पतन का एक कारण उसमें निहित मानवीयता का अंश माना जा सकता है । "अपने असीम भावातिरेक एवं कर्म की क्षमता और जीवन के प्रति अनंत लालसा के संदर्भ में फोमा गोर्दयेव एक सच्चा नायक है जिसमें निहित मानवीयता के आयामों को एवं परिणाम-स्वरूप उसकी साकारात्मक एवं सुंदर अभिरुचियों और अभिलाषाओं को उद्घाटित करने में कोई भी सक्षम नहीं हो पाता ।"[1]

प्रस्तुत रचना में याकोव मायकिन का चरित्र भी अत्यंत उल्लेखनीय है । मायकिन उभरते हुए बुर्जुआ वर्ग का प्रतिनिधि है, जो एक साधारण सौदागर की जिंदगी से प्रारंभ करके अपनी विकास-यात्रा को बढाते-बढाते अंत में फोमा गोर्दयेव की सम्पत्ति को भी हडपकर एक प्रतिष्ठित बुर्जुआ बन जाता है । गोर्की ने ही मायकिन के संबंध में कहा है - "फोमा गोर्दयेव में याकोव मायकिन ने, जो रस्सी बनाने के कारखाने का मालिक था, प्रमुख भूमिका अदा की है । वह भी लौह-पुरुषों में से एक है और साथ ही साथ तीक्ष्ण बुद्धि का आदमी भी है और उसमें अपने व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर बडे पैमाने पर सोचने की प्रतिभा भी है । राजनीति का गहरा जानकार होने के कारण वह अपने वर्ग के राजनीतिक महत्व को अच्छी तरह समझता है ।"[2]

---

1. Foma Gordeyev is a true hero, with his boundless passion and capability for action, his infinite devotion to the idea of a life where no one is too cramped to reveal his true humanity and consequently his positive and beautiful tastes and desires - Foma Gordeyev - Notes - p.308.

2. अनुवादक - शिवदान सिंह चौहान - व्यक्तित्व का विघटन - पृ: 104.

वह बुर्जुआ वर्ग के सभी गुणों से भर-पूर है । मरते वक्त का उसका यह कथन उसके चरित्र को खोलकर हमारे सामने रख देता है - "यदि तुम जिंदगी से कुछ पाना चाहते हो तो तुम्हें पाप करने से डरना नहीं होगा । खुदा हमारे पापों को माफ कर देगा । खुदा ने मानव को जीवन-सुधारने के लिए नियुक्त किया है, फिर भी उन्होंने उसे अधिक बुद्धि नहीं दी है । अतः वे उससे अधिक माँग भी नहीं कर सकते ।"[1] मायकिन सबों को स्वार्थपरता, कठोरता एवं भेडिये की तरह जिंदगी को देखने की शिक्षा देता है और स्वयं इस शिक्षा के अनुसार जीवन बिताता है । वह सतर्क भी है और बदलती परिस्थितियों के अनुसार जीवन को ढालने में समर्थ भी । इसप्रकार एक नव बुर्जुआ प्रतिनिधि की सभी विशेषताएँ मायकिन में मौजूद है । "दूसरी ओर मायकिन अर्थात् उसका संरक्षक पिता तो द्रुत गति से विकसित हो रहे पूँजीवाद और उसके परिणामस्वरूप पूँजीपति वर्ग की बढती स्वार्थपरता, व्यक्तिवाद, शोषण-वृत्ति, धन-संचय की अधिकाधिक लालसा और पूँजी की शक्ति की चेतना को व्यक्त करने वाला विशिष्ट बुर्जुआ पात्र है ।"[2]

वास्तव में फोमा गोर्दयेव "जीवन के स्वामी" माने जाने वाले बुर्जुआ वर्ग के मानसिक असन्तोष एवं भविष्य के बारे में अपनी घबराहट को उद्घाटित करता है । गोर्की को यह लिखने की प्रेरणा तत्कालीन रूसी परिस्थितियों से ही मिली थी । उसके संबंध में गोर्की ने स्वयं कहा है - "मैं उन सौदागरों से खूब परिचित था जिनकी मौलिक प्रवृत्ति दूसरों के श्रम पर जीने की है और उनकी यह ठोस धारणा थी कि "स्वामी" होने के कारण यह उनका अधिकार है ।"[3] गोर्की के उपर्युक्त कथन से

---

1. If you are bent on getting something out of life, you mustn't be afraid of sinning. The Lord will forgive your errors. The Lord has appointed man to improve life, and yet. He has not blessed him with too much brain. And so He can't be too demanding of him - Foma Gordeyev - p.300.

2. मदनलाल मधु - प्रेमचंद और गोर्की - दो अमर प्रतिभाएं - पृ: 163.

3. I was fairly acquainted with the merchants, their basic effort to line by the labour of others and their firm conviction that this is their right as 'masters'. Foma Gordeyev - Notes - p.305.

यह पता चलता है कि मायकिन के चरित्र को उन्होंने इसी आधार पर स्थापित किया है । लेकिन फोमा गोर्दयेव का चरित्र तत्कालीन बुर्जुआ वर्ग की नयी पीढी में धन के प्रति उभर आनेवाली उदासीनता से प्रभावित है ।

वास्तव में इस रचना का मूल-भूत लक्ष्य मानवीयता की ओर लोगों को अग्रसर कराना है और यह रचना उसमें पर्याप्त मात्रा में सफल भी हुई है । "यह सुषुप्त मानवीय चेतना को नोंच जगाकर उसे मानवीयता की लडाई की ओर उन्मुख कराता है ।"[1] कुल मिलाकर देखने पर इस रचना में रूसी जीवन ही नहीं, सम्पूर्ण मानव-जीवन उभर आया है । बुर्जुआ व्यक्तियों की मानसिकता का इसमें मनोवैज्ञानिक धरातल पर विश्लेषण हुआ है । अतः यह रचना काल एवं देश की सीमाओं के परे है क्योंकि बुर्जुआ वर्ग की यह मानसिकता सार्वलौकिक रूप में देश-काल की सीमा रहित होकर हर कहीं दिखाई पडती है । इसके साथ ही जीवन की निर्मम वास्तविकताओं का यथातथ्य वर्णन भी इसमें है । फोमा गोर्दयेव के संबंध में जाक लंडन का यह कथन यहाँ उल्लेखनीय है - "फोमा गोर्दयेव एक महान रचना है - केवल उसमें चित्रित रूस के विस्तार के कारण नहीं वरन् जीवन की व्यापकता के कारण ।"[2]

फोमा गोर्दयेव निस्सन्देह गोर्की को महान प्रतिभा का परिचय कराने वाला अद्वितीय उपन्यास है । समसामयिक रूसी जीवन के परिवेश में बुर्जुआ समाज की विशिष्ट पृष्ठभूमि में जन्म लेने वाले मानवीय जीवन-बोध के आयामित संघर्षों की सफल गाथा है यह उपन्यास । फोमा गोर्दयेव बुर्जुआ बनने के लिए

---

1. It pricks the sleeping conscience awake and drives them into the battle of humanity - Jack London - Revolution and other Essays - p.172.

2. Foma Gordeyev is a big book - not only is the breadth of Russia in it, but the expanse of life - Foma Gordeyev - Notes - p.309.

अभिशप्त है जबकि उसका मन इस अभिशाप को स्वीकारने के लिए विवश है । परिवेश का बोझ और व्यक्ति का विरोध एक ऐसा महान तथ्य बनकर इस उपन्यास में समाया हुआ है कि अंत तक पहुँचते - पहुँचते उसका स्वरूप व्यक्ति को आन्तरिक रूप से टूटने के लिए बाध्य कर देता है । इस दृष्टि से फोमा एक अन्तर्मुखी पात्र है जो आगे चलकर असंतुलन की स्थिति में रुग्ण मानसिकता का शिकार बन जाता है । फोमा में विद्यमान त्रास और अवसाद प्यार की अप्राप्ती से जनित कुंठा उसको "सादिज़्म" या पर पीडा की सीमा तक ले जाता है जिसके कारण वह हत्याएँ भी कर बैठता है । इससे भी संतुष्ट न होकर वह अपने वर्ग पर प्रहार करना चाहता है जो सभी प्रकार के अपराधों का ठेका लेकर धनोपार्जन के कर्म में लगा रहता है । वेश्या का स्नेह, बुर्जुआ का अभिनय और जीवन की सारहीनता का अहसास इस नायक के व्यक्तित्व को इस तरह झकझोर कर देते है कि वह पागल हुए बिना भी पागलखाना पहुँचता है और पागलखाने से मुक्त होकर दुनिया के इस अजायब घर में वास्तव में पागल बनकर आ धमकता है । फोमा का चरित्र ऐसे त्रासद आयामों से अनुबंधित है कि उसकी पीडा को अभिभूत करने में उसका समाज असफल हो जाता है । यह असफलता ही फोमा को ऐसी ऊँचाइयों पर ले जाती है जहाँ विश्व के महान त्रासदियों के नायक उसका स्वागत करने के लिए खडे रहते हैं । यही इस पात्र, इस उपन्यास और इस महान लेखक की प्रतिष्ठा का आधार है ।

वे तीन (त्रिलोजिया)

यह गोर्की का दूसरा उपन्यास है जिसे लघु उपन्यास की संज्ञा दी गयी है । 1900 में लिखित इस उपन्यास में गोर्की की परिवर्तित विचारधारा की झलक हम अवश्य देख सकते हैं । उपन्यास के नाम से ही स्पष्ट है कि तीन मुख्य पात्रों के इर्द-गिर्द इसका कथानक बुना गया है - इल्या ल्युन्वोव, याकोव फिलिमोनोव और पावेल ग्राचोव । तीनों पात्र समाज की तीन विभिन्न परिस्थितियों के प्रतिनिधि हैं । संपूर्ण कथा पर विश्लेषण करने पर ऐसा लगता है कि कथा का संचालक इल्या ल्युन्वोव है और इसी वजह से उसे उपन्यास का नायक कहने में कोई आपत्ति नहीं है ।

"वे तीन" का प्रारंभ इल्या के पारिवारिक वातावरण से होता है। इल्या का दादा एक धनी कारोबारी व्यक्ति है जो बुढ़ापे में अपने गुनाहों, अत्याचारों और अनाचारों की चेतना से पीडित होकर प्रायश्चित करने केलिए जंगल में जाकर सन्यास स्वीकार करता है। इल्या के पिता एक दुश्चरित्र व्यक्ति है जो अब जेल की सजा काट रहा है। इत्या की माँ की मृत्यु पहले ही हो जाने से उसका पालन-पोषण उसका चाचा टेरंडी करता है। पारिवारिक दशा बिगड जाने पर इल्या अपने चाचा के साथ शहर में आकर रहने लगता है। येरिमेय नामक बूढे व्यक्ति की सहायता से वे अपनी आजीविका कमाते है। इल्या प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद अपनी रोज़ी रोटी कमाने के लिए पहले एक मछली वाले की दूकान पर नौकरी करता है, पर अपनी ईमानदारी और निर्भीकता के कारण उसे वहाँ से निकाल दिया जाता है। बाद में वह एक बिसाती बनकर अपनी रोटी कमाने लगता है।

इल्या के दो मित्र है - याकोव और पावेल। याकोव के पिता पेत्रुखा स्वार्थी है और धनोपार्जन के लिए अपनी आत्मा को भी बेचने को वह तैयार है। लेकिन याकोव गंभीर एवं नम्र स्वभाव का लडका है और उसे किताबें पढने का भी बहुत शौक है। वह माशा नामक लडकी से प्यार भी करता है।

पावेल लोहार सावेल का बेटा है, जो बचपन से ही बहुत ही उद्दंड स्वभाव का व्यक्ति है। पावेल के पिता सावेल सबों के सामने अपनी पत्नी की हत्या कर डालने से दंडित हो जाता है। अतः प्रारंभ से ही पावेल स्वतंत्र रूप से जीवन बिताता है। एक बार पुलिस उसे चोर समझकर जेल में डालती है और वहाँ से वह पढना-लिखना भी सीखता है। इल्या, याकोव और पावेल - ये तीनों बचपन से ही घनिष्ठ मित्र हैं।

एक बार इल्या अपने चाचा टेरंडी और पेत्रुखा के द्वारा मृत्यु शय्या पर पडे येरिमेय को लूटने के लिए मारते देखता है। उस पैसे से दोनों धनी बन जाते हैं। पेत्रुखा शराबखाना खोलता है और याकोव को उसमें लग जाने को मज़बूर करता है, पर वह मानता नहीं। याकोव इल्या से यह समझ लेता है कि

अपने पिता एक लुटेरा एवं हत्यारा है । बाप और बेटे के बीच झगडा होता है और याकोव को इस तरह मारता है कि अंत में उसे यक्ष्मा का रोग होता है । इस दुर्घटना के पूर्व ही याकोव की प्रेमिका का एक बूढे परपीडक के साथ विवाह हो जाता है । इन कारणों से याकोव अपने जीवन का दुःख वोदका के घूँटों में डुबोने लगता है जिससे उसके दोनों फेफडे खराब हो जातें है और वह मौत के मुँह में जा गिरता है ।

जेल से बाहर निकलकर पावेल मज़दूरी करके अपना जीवन बिताता है और जेल के क्रांतिकारी कैदियों की प्रेरणा से अब कविता भी लिखता रहता है । वह वेरा नामक वारांगना से प्रेम करता है और वह भी उसे छोडना नहीं चाहती । वास्तव में पावेल का चरित्र-विकास बुद्धिजीवियों के साथ मिलकर सही दिशा में होता है । वेरा एक बार चोरी के जुल्म में पुलिस के हाथो में फँसती है और पावेल को यह सन्देह होता है कि वह अदालत में यह कहेगी कि चोरी पावेल के लिए, कर रही है । पर ऐसा न होता है और वेरा खुद गलती स्वीकार करती है ।

इन दोनों पात्रों से बिल्कुल भिन्न रूप से इल्या का चरित्र-विकास होता है । उसे दिशा-निर्देशन देने वाला अब कोई नहीं है और वह स्वतंत्र, पर ऊब भरा जीवन बिताता है । उसका वारांगनाओं के साथ संपर्क भी है । वेरा की सहेली ओलिम्पियाडा से वह आकृष्ट हो जाता है । लेकिन ओलिम्पियाडा बूढे महाजन पेलुश्कोव के साथ घनिष्ठ संबंध रखती है और इल्या इसे पसन्द नहीं करता । एक दिन इल्या महाजन पेलुश्कोव की हत्या करके उसे लूटता है, पर अपनी चतुरता से कानून से बच जाता है । इल्या की आर्थिक उन्नति तो होती है, पर अक्सर ओलिम्पियाडा के साथ झगडने से वह शहर छोडकर एक नये पति के साथ चली जाती है इसी बीच इल्या को पेत्रुखा का घर छोडकर जाना पडता है और तात्याना डिमोविच नामक नारी के घर में रहने का अवसर मिलता है जो किरीक डिमोविच नामक पुलिस वाले की पत्नी है । स्वार्थी एवं दुश्चरित्र तात्याना इल्या के साथ भी अवैध संबंध स्थापित करती है । आगे बढकर इल्या और तात्याना दोनों साझे में व्यापार करने लगते हैं और दोनों अमीर बनते हैं ।

इल्या की दूकान में गाव्रिक नामक एक लडके को सहायता के लिए नियुक्त करता है । आगे चलकर गाव्रिक की बहिन सोफिया के प्रति इल्या आकृष्ट हो जाता है । पर दोनों अपनी विशिष्ट मानसिकता के कारण अलग हो जाते हैं । इल्या को अपने जीवन में कहीं से भी सुख या शाँति नहीं मिलती और वह अपने अपराधबोध के कारण दिन-प्रतिदिन जर्जरित होता जाता है । यहाँ तक कि वह अपने मस्तिष्क का संतुलन भी खो बैठता है और उस पर उन्माद छा जाता है । एक दिन तात्याना के जन्मदिन पार्टी में वह उन्मादियों की तरह चीख उठता है कि उसने ही महाजन पेलुश्क्तोव की हत्या की है और अब उसका तत्याना के साथ अवैध संबंध है । दोनों भेद खुल जाने पर सर्वत्र हलचल मच जाती है । उसकी गिरफ्तारी के लिए पुलिस आती है, पर बचने के प्रयत्न में इल्या आत्महत्या कर लेता है ।

गोर्की के "वे तीन" शीर्षक इस उपन्यास में इल्या का चरित्र अत्यंत महत्वपूर्ण है । गोर्की ने बडी सजगता के साथ उसका चरित्र-विकास दिखाया है । परिवार के अभिशप्त वातावरण में जन्म लेकर जिंदगी के प्रारंभ में ही निम्न जीवन बिताने को वह विवश है । सामाजिक विसंगतियों और अत्याचारों से वह बचपन से ही परिचित है । बुर्जुआ वर्ग की स्वार्थपरकता, अहं और अत्याचारों को वह अपनी ही आँखों से देखता है । बुर्जुआ समाज में व्यक्ति अपनी मानवीयता को खोकर पुर्जा मात्र रह जाता है और यहाँ तक कि अपने एकमात्र रिश्तेदार टेरंडी से भी उनकी आस्था उड जाती है । इल्या समाज के इस अन्तर्विरोध से भी परिचित है कि समाज को दोनों हाथों से लूटने वाले लुटेरों को ही समाज में मान्यता प्राप्त है और ईमानदारी के साथ श्रम करने वालों को समाज हेय दृष्टि से देखता है । अतः वह किसी भी प्रकार समाज में "जीवन के स्वामी" बनना चाहता है । इसी वजह से ही वह बूढे महाजन की हत्या करके उसे लूटता है । उसे एक हत्यारा बनाने का दायित्व समाज पर ही है क्योंकि वह विचार करता है - "चोर भी मेरे सामने डींग मारते हैं, वे नगर-परिषद के सदस्य चुन लिये जाते है, वे मकानों और शराबखानों के मालिक है - ऐसा क्यों है कि सब कुछ चोरों के ही नसीब में है और मेरे नसीब में कुछ भी नहीं ।"[1]

---

1. वे तीन - पृः 172.

जब इल्या अपनी निम्नतम स्थिति से उबरता है, तब भी समाज से उसे आदर प्राप्त नहीं होता । इस हीनता-भाव से वह जिंदगी-भर मुक्त नहीं हो पाता और मुक्त होने की झटपटाहट में ही उसका अंत होता है । फोमा गोर्दयेव एवं इल्या दोनों के अंत में एक विशिष्ट समानता हम देख सकते है - "फोमा और इल्या का अंत लगभग समान है - एक पागल हो जाता है और दूसरा आत्महत्या करता है । किंतु दोनों उल्टी दिशाओं में बढने का प्रयास करते हुए ऐसा करते हैं । फोमा धनिकों के विरुद्ध विद्रोह करके नीचे वाले लोगों की तरफ जाना चाहता है और इल्या नीचे से उठकर ऊपर वालों तक पहुँचना चाहता है ।"[1] नीचे से ऊपर वालों तक उठने के प्रयत्न में जब वह असफल हो जाता है, तब उसका विद्रोह भाव जागृत होता है और उस वर्ग के भ्रष्टाचारों एवं अत्याचारों का पर्दाफाश करने को वह मज़बूर बनता है । निम्न स्तर का इल्या भी तात्याना जैसी उच्च वर्गीय नारियों के साथ अवैध संबंध रख सकता है - उसमें जागृत विद्रोह-भाव के कारण ही वह उस निष्ठुर सच्चाई को निर्भीकता के साथ समाज के सामने पर्दाफाश करता है ।

इल्या के चरित्र की एक दूसरी विशेषता यह है कि वह अपराध-बोध से व्यथित है और अपनी आत्मा की धिक्कार को बर्दाश्त करने में असफल है । महाजन पेलुश्कोव की हत्या करने से उसे भौतिक रूप से दो लाभ प्राप्त होते हैं - प्रथम उसके और ओलिम्पियाडा के बीच से उस बूढ़े को हमेशा के लिए हटा सकता है और दूसरा उसे लूटने से प्राप्त धन से वह भी बुर्जुआ बन सकता है । लेकिन सबसे त्रासदीय बात यह है कि वह इन दोनों लाभों से वंचित ही रह जाता है और आन्तरिक तौर पर हमेशा के लिए आत्मा-व्यथा का शिकार भी बन जाता है । जीवन की व्यर्थता से वह खूब अवगत है और इसी कारण अपराध-बोध से उद्भूत आत्म-व्यथा को समाप्त करने के लिए वह पुलिस से हत्या का भेद खोलने की बात सोचता है । पर दंडित होने का डर उसे पीछे खींचता है । जीवन-भर इल्या को इस प्रकार की निष्ठुर व्यथा में धकेलने का दायित्व समाज पर ही है । इल्या का

---

1. मदन लाल मधु - प्रेमचंद और गोर्की दो अमर प्रतिभाएं - पृ: 194.

यह आत्म-कथन देखिए - "जीवन-भर मैं बुराइयों में लीन होकर ही रहा । मैं जिनसे घृणा करता था - जिनसे मैं दूर भागना चाहता था- उसी की तरफ मैं खींचा गया । किसी आदर्शवान व्यक्ति को मैंने अभी तक नहीं देखा । इस दुनिया में कोई भी व्यक्ति सही अर्थों में नेक और इज्जतदार नहीं है ।"[1]

इल्या अपने समाज में किसी भी आदर्शवान व्यक्ति को नहीं देखा है और आदर्शवान होने का स्वाँग भरने वालों के वास्तविक चेहरे से भी वह परिचित है । उदाहरण के लिए माशा का विवाह करने वाला निकृष्ट बूढा परपीडक समाज के सामने आदर्शवान एवं इज्जतदार जज है । समाज के इस चारित्रिक पतन का प्रभाव अवश्य ही व्यक्तियों पर पडता है । इसी प्रभाव से ही इल्या का चारित्रिक एवं नैतिक पतन होता है । समाज नारी को भोग एवं स्वार्थ-पूर्ति की वस्तु मानते है और इसी वजह से इल्या के मन में भी नारियों के प्रति वही दृष्टिकोण उद्भूत होता है । समाज के सब व्यक्तियों की तरह वह भी बचपन से ही वेश्याओं के साथ संबंध रखता है । इसका दायित्व भी सामाजिक व्यवस्था पर ही है । बडे हो जाने पर वह ओलिम्पियाडा से आकृष्ट होता है, पर वह एक चतुर वारांगना होने के कारण उसके चंगुल में फँसना नहीं चाहती है और निकल जाती है । बाद में तत्याना के प्रति उसे आदर-भाव था, पर तत्याना ही उसे अवैध शारीरिक संबंध के लिए प्रेरित करती है । इससे इल्या काफी आहत भी है । उसके बाद सोफिया से वह आकृष्ट है, पर दोनों की विशिष्ट मानसिकता के कारण दोनों अलग हो जाने को अभिशप्त है ।

इल्या के जीवन की त्रासदीय परिणति के लिए एक और कारण है - वह अपने मित्रों के जीवन की दुर्घटना से प्रभावित है । याकोव जीवन में सभी प्रकार की यातनाओं और व्यथाओं को सहन करके और बुराई का विरोध तक न करके अपनी मृत्यु-शय्या पर है । पावेल सोफिया संबंधी विषय में उससे नाराज है

---

1. वे तीन - पृ: 281.

या शत्रु बन गया है । और माशा को जिंदगी भी सबसे दर्दनाक रूप में ही गुजरती है । समाज की मौजूदा गति से वह निराश है क्योंकि सामाजिक परिवर्तन लाने वाले समाज के उच्च वर्ग भी पेत्रुखा जैसे लुटेरे एवं हत्यारे हैं । उनसे कोई आशा रखना व्यर्थ है । संपूर्ण रूप से देखने पर इल्या के चरित्र को फोमा गोर्दयेव के चरित्र का एक "ऐंटी थीसिस" मान सकते है । "मेरी दृष्टि में वह फोमा की एक "ऐंटी थीसिस" है । फोमा अपने जीवन को आपकी रचना में कहे अनुसार ही समाप्त करने को विवश है और इल्या अराजकता में समाप्त करने को । फोमा का जन्म उच्च परिवार में हुआ था और उसका सम्पूर्ण जीवन अपनी क्षमताओं की एक भाग्यसूचक उतार है । जबकि इल्या का जन्म महत्वहीन परिवार में हुआ था और उसका जीवन विकास, संश्लेषण और निर्णय का एक प्रश्न है, जिसकी अनेक धाराओं का एक ही धारा में मिलन है ।"[1]

इस उपन्यास का दूसरा मुख्य पात्र है याकोव । वह प्रारंभ से ही बहुत सीधा-सादा व्यक्ति है और विनय एवं शाँति के मार्ग पर जीवन बिताने वाला भी । उसकीसबसे बडी कमजोरी यह है कि वह अपनी इस विशिष्ट मानसिकता के कारण बुराइयों का विरोध करने में असमर्थ है । पर जब एक बार विरोध करता है तब वहाँ बुरी तरह पराजित भी हो जाता है । अपनी प्रेमिका को पाने में भी वह असफल है । पुस्तकों में लीन रहने वाला याकोव अंत में निराश बनकर शराबी बन जाता है और स्वयं अपना कब्र खोदता है । यह उसकी चारित्रिक कमजोरी की तरफ संकेत करता है । प्रतिकूल परिस्थितियों के विरुद्ध संघर्ष करने पर याकोव जैसे व्यक्तियों के हार जाने की ही संभावना है । पराजित हो जाने पर निराशा के गर्त में फँसकर वे अपनी जिन्दगी को बर्बाद कर देंगे । याकोव अपने चारों तरफ सभी तरह के शोषक, लुटेरे, हत्यारे और बदमाश लोगों को जिंदगी का खूब मजा लेते पाता है, पर अपने चरित्र में व्याप्त निष्क्रियता या तटस्थता के कारण समाज के

---

1. In my view, he is the anti-thesis of Foma . Foma had inevitably to end up the way he does in your work, and Ilya to end up in anarchy. Foma was born great and his entire life is a fateful belittling of his abilities, while Ilya was born insignificant and his life is a question of growth, synthesis and will, with different streams combining into a single channel - Foma Gordeyev Notes - p.308.

इन राक्षसों के विरुद्ध संघर्ष करने में वह असफल रह जाता है । गोर्की ने याकोव के इस चरित्र द्वारा रूस की निष्क्रिय या तटस्थ जनता पर व्यंग्य किया है ।

गोर्की के "वे तीन" में पावेल ग्राचोव का चरित्र इन दोनों चरित्र से बिल्कुल भिन्न है । वह बचपन से ही उद्दंड व्यक्ति है और अपनी ही मेहनत से रोटी कमाकर स्वतंत्र जीवन बिताने वाला भी । स्वतः स्फूर्त विरोध के साथ ही साथ उसका मानसिक-आत्मिक विकास भी होता है । वेरा के साथ उसका संबंध है, पर वह परिस्थितियों के साथ तादात्म्य प्राप्त करने में सक्षम है । कविता लिखने की रुचि उसे प्रारंभ से है और बुद्धिजीवियों की संगति में शामिल होने से वह एक श्रेष्ठ कवि बन जाता है । इल्या द्वारा सोफया की इज्जत पर चोट लगाने पर वह खुलकर उसका विरोध करता है और इल्या को फटकारता है । बचपन का मित्र होने पर भी बुर्जुआ बना मज़दूर इल्या से डटकर विरोध करना पावेल के चरित्र का एक उज्जवल पक्ष है । इसके साथ ही माशा के प्रति किये गये अत्याचारों का भी वह खुलकर विरोध करता है । वह जीवन में कठिन परिश्रम करने वाला है और यंत्रणाओं एवं मुसीबतें झेलने पर भी जीवन के प्रति आस्थावान भी । वेरा से प्राप्त गुप्त-रोग के कारण वह अस्पताल में पडा रहता है, पर निराश नहीं बनता । कुल मिलाकर देखने पर पावेल उस अंधगली से बच जाता है जिसमें उसके दोनों साथी फँस गये थे और उसे ही सही मार्ग का आशा-किरण दिखाई देता है । गोर्की ने पावेल के चरित्र द्वारा सक्रिय जनता की प्रशंसा की है जो बुद्धिजीवियों के साथ मिलकर सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए प्रयत्न-रत है और जीवन को आशामयी बनाते है ।

"वे तीन" के नारी पात्रों में तत्याना का चरित्र विशिष्ट महत्व रखता है । तत्याना नव बुर्जुआ वर्ग की नारी प्रतिनिधि है जो अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए कुछ भी करने से नहीं हिचकती - यहाँ तक कि दूसरों के साथ अवैध संबंध रखने को भी । यह इस वर्ग की नैतिक गिरावट का द्योतक है । माशा का चरित्र सामाजिक अन्याय एवं अत्याचारों से उत्पीडित रूसी नारी का प्रतीक है जो इन अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करने में असमर्थ है । इन अत्याचारों को बनाये रखने में समाज एवं सत्ता का भी गहरा योगदान है ।

सोफिया प्रगतिवादी विचारों से प्रभावित नयी पीढी की नारी है जो सामाजिक विसंगतियों और अत्याचारों के विरुद्ध तनकर संघर्ष करना अपना जीवन लक्ष्य मानती है । बुद्धिजीवि वर्ग की सभी विशेषताएँ उसमें परिलक्षित हैं । और ओलिम्पियाडा का चरित्र नारी की विवशता से उद्भूत विलासिता का प्रतीक है । अपने सौतेले बाप के अमानवीय अत्याचार का शिकार बनने से वह जीवन के प्रारंभ में ही पतित जीवन बिताने को अभिशप्त है और इसी कारण से आगे चलकर वह एक वेश्या बनने को विवश हो जाती है ।

इस प्रकार संपूर्ण रचना को दृष्टि में रखकर देखने पर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न पात्रों के माध्यम से गोर्की न "वे तीन" में तत्कालीन रूस की सही मानसिकता का चित्र खींचा है और सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के संदर्भ में उसकी संभावनाओं पर प्रकाश डाला है । जहाँ तक पुरुष पात्रों का संबंध है हम यह कह सकते हैं कि ये तीनों तीन अलग-अलग वर्ग के प्रतीक हैं । इन्हीं के माध्यम से गोर्की ने रूसी पुरुषों में दृष्टिगत होने वाली तीन भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों को उजागर कर रखा है । इल्या किसी न किसी प्रकार दूसरों के धन को हडपकर बुर्जुआ बनना ही अपना जीवन-लक्ष्य मानता है । जबकि याकोव अपनी अक्षमता के कारण निराशाग्रस्त मनःस्थिति का शिकार बनता है और निष्क्रियता को गले से लगाकर शराब के बोतलों में डूब जाता है । पावेल के माध्यम से गोर्की ने नई पीढी की सक्रियता की संभावनाओं की ओर इशारा किया है जो बुद्धि-जीवियों के साथ मिलकर कर्मरत हो जाता है और सामाजिक अत्याचारों और अन्यायों के विरुद्ध संघर्ष में जुड जाता है ।

उपर्युक्त पात्रों का मानसिक विश्लेषण करते समय पता चलता है कि गोर्की का सृजनात्मक दायित्व कलात्मक दायित्व से अधिक प्रखर हुआ है । प्रतिबद्धता का स्वर इस उपन्यास को सामाजिक उन्नति के पक्षों की खोज करने के लिये बाध्य करता है । गोर्की कालीन रूस की सामाजिकता का और जीवन में व्याप्त विद्रूपता का बडा ही तटस्थ चित्रण इसमें मिलता है । विप्लव-पूर्व का रूस वेश्याओं और अपराधियों से एक ओर भरा पडा था तो दूसरी ओर दिशाहीन युवा वर्ग की

अकर्मण्यता का स्वर भी इस उपन्यास में मुखरित हुआ है । कलात्मक दृष्टि से एक महान रचना न होने पर भी विप्लव-पूर्व के रूस की जिंदगी की सही तस्वीर प्रस्तुत करने में यह उपन्यास एक सीमा तक सफल हुआ है ।

माँ (मात्वे)

मैक्सिम गोर्की की श्रेष्ठतम औपन्यासिक उपलब्धि के रूप में "माँ" का स्थान विश्वसाहित्य में सुरक्षित है । दुनिया-भर के सर्वहारा वर्ग को इतनी अधिक प्रेरित एवं प्रभावित करने वाली रचना अब तक नहीं हुई है । रूसी सर्वहारा वर्ग को पार्श्वभूमि में प्रतिष्ठित करके उन्होंने इस रचना द्वारा विश्व-भर के दलित, शोषित एवं उत्पीडित सर्वहारा वर्ग को आशा का संदेश दिया है । वस्तु पक्ष एवं कला पक्ष दोनों की श्रेष्ठता एवं सुन्दर सामंजस्य से इस रचना की साहित्यिक महत्ता आज भी अछूती बनी रही है । सदियों से जर्जरित मज़दूर वर्ग को अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने की अदम्य प्रेरणा इसमें निहित है । रूसी क्रांति की भूमिका के रूप में इस रचना का ऐतिहासिक योगदान सदैव स्मरणीय है । "दुनिया-भर के विभिन्न भाषा-भाषी लाखों करोडों सर्वहारा वर्ग के स्त्री-पुरुषों ने इस उपन्यास में ऐसा कुछ देखा है जो उनके लिए सबसे प्रिय है । इसलिए यह विश्व-भर के सर्वहारा वर्ग की सबसे प्रिय रचना बन गयी है । यह ज़ार के विरुद्ध संघर्ष करने वाले एक रूसी श्रमिक की यातनाओं से उन्हें परिचित कराती है जो मानव-हृदय को मंत्र मुगध करने वाली एवं मानव गरिमा के सर्वोच्च स्वरूप को जगाने वाली है ।"[1]

गोर्की को इस रचना की प्रेरणा सोर्मोवो बस्ती में घटित एक जुलूस से मिली है । इस जुलूस में उपन्यास के दोनों पात्र जीवित रूप में गोर्की से मिले थे - प्योत्र जालोमोव और उसकी माँ अन्ना किरिलोव्ना । स्वयं गोर्की ने

---

1. Millions upon millions of men and women of the proletariat, speaking diverse languages throughout the world found something dear to their hearts in the book, which has become the most favourite book of the proletarians of the world. It told them the sufferings of the Russian worker, a fighter against tsarism, a story that gripped the heart and awakened the best in men - Antony Lunarchsky - Selected Stories - p.10.

इसे देस्नीत्स्की के नाम लिखे गये एक पत्र में स्वीकारा है - "मज़दूरों के बारे में एक किताब लिखने का विचार सोर्मोवो के प्रदर्शन, के बाद नीज़्नी में ही मेरे दिमाग में आया था । मैंने तभी इसके लिए सामग्री जुटाना और विभिन्न टिप्पणियाँ लिखना आरंभ कर दिया था ।"[1] इस वास्तविक घटना को गोर्की ने अपनी अनुपम कला-प्रतिभा की जादू से एक सशक्त उपन्यास का रूप दे दिया ।

उपन्यास का प्रारंभ एक फैक्टरी मज़दूर मिखायेल व्लासोव की दीन-हीन पारिवारिक परिस्थितियों से होता है । एक कुशल मिस्त्री होने पर भी वह अच्छी मज़दूरी से वंचित है और उससे उद्भूत मानसिक व्यथा से मुक्ति पाने के लिए वह नशे में डूबता है, दूसरों के साथ झगडा करता है और घर आने पर पत्नी पिलियेगा निलोव्ना को खूब पीटता है । इकलौता बेटा पावेल व्लासोव एक दिन इसका विरोध करता है और उसी दिन से पिता घर का ख्याल छोडकर खूब शराब पीने लगता है । दो साल के अंदर ही अंदर मिखायेल व्लासोव की मृत्यु हो जाती है और पावेल पर घर का बोझ आ पडता है ।

पावेल बचपन से ही गंभीर व्यक्तित्व वाला है और अन्य मज़दूरों से भिन्न मानसिकता रखने वाला भी । वह गुप्त रूप से सर्वहारा वर्ग के बारे में लिखी गयी गैर-कानूनी पुस्तकें घर में लाकर पढता है और क्रांतिकारी दल का सदस्य बनता है । माँ इससे अत्यधिक भयभीत है । धीरे-धीरे क्रांतिकारी दल की सभा उसके घर में होने लगती है, और माँ भी क्रमशः आन्दोलनकारियों से परिचित हो जाती है । माँ-बाप विहीन आन्दोलनकारी आन्द्रेय उसके घर में रहने लगता है और सदैव माँ की सहायता करता रहता है । आन्द्रोय और नताशा - जो दोनों क्रांतिकारी है, आपस में प्यार करते है और शादी करना चाहते है । पर पावेल उसका विरोध इसलिए करता है कि विवाहित हो जाने पर दोनों अपने राजनैतिक लक्ष्य से विचलित हो जायेंगे । पावेल भी स्वयं इसी कारण साशा के साथ अपना जो संबंध है, उसे ठुकरा देता है ।

---

1. मदनलाल मधु - प्रेमचंद और गोर्की दो अमर प्रतिभाएं - पृ: 205.

पावेल कारखाने के मज़दूरों के बीच गैर-कानूनी पर्चे बाँटता है और इससे मज़दूरों में मालिक के अन्याय और अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करने का भाव जाग उठता है । कुछ ही दिनों के अंदर ही पावेल के घर की तलाशी होती है और पावेल और आन्द्रेय दोनों को गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया जाता है । अब माँ भी आन्दोलनकारियों की विचारधाराओं से प्रभावित है और पुत्र के कामों को आगे बढाने का निश्चय कर लेती है । माँ उन पर्चों को गुप्त रूप से मज़दूरों के बीच बाँटती रहती है । पावेल और आन्द्रेय दोनों इस खबर से अत्यंत प्रसन्न होते हैं । महीनों के बाद उन दोनों को जेल से मुक्ति मिलती है और घर आने पर फिर अपने क्रांतिकारी कामों में संलग्न हो जाते हैं ।

पावेल तुरंत ही अन्यायों के विरुद्ध आन्दोलन चलाने के पक्ष में है, पर आन्द्रेय उसे समझाता है - "हमें पढना है और दूसरों को पढाना है - यही हमें करना है । मेरी दृष्टि में हमें अपने हाथ में शस्त्र लेने के पहले ही अपने सिर को शस्त्रों से सुसज्जित करना है ।"[1] पर पावेल उसे मानता नहीं है और प्रथम मई को मज़दूरों का प्रदर्शन निकालने का प्रबंध करता है । जुलूस में सत्ता से टक्कर लेकर कई आहत होते है और सभी नेताओं को गिरफ्तार करके पुलिस ले जाती है । पावेल हाथ में एक झंडा लेकर जुलूस का नेतृत्व करता है, पर हलचल में झंडा हाथ से निकल जाता है । यह देखकर माँ दौडकर उसे उठाती है जिससे उसे भी पुलिस की मारें सहनी पडती हैं । माँ वहाँ एकत्रित जनता में जागरण की चिनगारी फूँकना चाहती है, पर सत्ता की निष्ठुर हाथों से वह बेहोश होकर अध-मरी सी घर पहुँचती है । माँ उपन्यास का प्रथम भाग यहीं समाप्त होता है ।

"माँ" उपन्यास के दूसरे भाग में माँ को अपने पुत्रों के महत् कामों में संलग्न दिखाया गया है । वह अब शहर में क्रांतिकारी निकोलाय इवानोविच एवं उसकी बहिन सोफिया के साथ रहती है । माँ किसी न किसी प्रकार अपने

---

1. माँ - पृः 124.

क्रांतिकारी कामों को आगे बढाने के लिए झटपटाती रहती है । एक दूरस्थ गाँव में प्रगतिवादी विचारों से प्रभावित किसान रीबिन के साथ माँ का परिचय होता है । उस गाँव के किसानों में संघर्ष की चिनगारियाँ फूँकने के लिए माँ सोफिया के साथ गैर-कानूनी क्रांतिकारी पर्चों को लेकर जाती है और वहाँ के किसानों में जागरण का सन्देश पहुँचाती है । किसानों में भी अपने निष्ठुर शोषकों के विरुद्ध विद्रोह की भावना जाग उठने लगती है । इससे अवगत पुलिस रीबिन को सबों के सामने बुरी तरह मारती है और उसे अध-मरा ही जेल भेजती है ।

रीबिन के अभाव में गाँव के क्रांतिकारी कामों को स्तीफान, येमा आदि किसान आगे बढाते है और माँ क्रांतिकारी पर्चों को वहाँ पहुँचाकर उनकी सहायता करती रहती है । शहर की क्रांतिकारियों की सहायता भी माँ करती है और कुल मिलाकर देखने पर शहर और गाँव दोनों के क्रांतिकारी संघर्ष में माँ अपनी विशिष्ट भूमिका निभाती रहती है । कुछ महीनों के बाद पावेल, आन्द्रेय आदि क्रांतिकारियों को अदालत में सुनाई के लिए पेश किये जाते हैं । वहाँ पावेल यह खुलकर घोषणा करता है कि "हम समाजवादी है । इसका मतलब है कि हम वैयक्तिक सम्पत्ति के खिलाफ है, वैयक्तिक सम्पत्ति की पद्धति समाज को छिन्न-भिन्न कर देती है, लोगों को एक दूसरे का दुश्मन बना देती है, लोगों के परस्पर हितों में एक ऐसा द्वेष पैदा कर देती है, जिसे मिटाया नहीं जा सकता । इस द्वेष को छिपाने या न्यायसंगत ठहराने के लिए वह झूठ का सहारा लेती है और झूठ, मक्कारी और घृणा से हर आदमी की आत्मा को दूषित कर देती है ।"[1]

इस भाषण से क्रुद्ध होकर अदालत उन्हें प्रवास की सजा देती है और उन्हें सैबीरिया भेजती है । पर माँ और वहाँ उपस्थित अन्य लोग इस भाषण से अत्यधिक प्रभावित हो जाते हैं । वे पावेल के इस भाषण को दुनिया-भर में प्रचार करना चाहते हैं । और माँ उस भाषण को गुप्त रूप से छपवाकर उसे गाँवों में बाँटने के लिए रेलवे स्टेशन पहुँचती है, पर वहाँ माँ पुलिस के निष्ठुर हाथों में फँस जाती है

---

1. माँ - पृ: 350.

पुलिस उसकी पिटाई करती है और रक्त से लथपथ होने वाली माँ के मुँह का यह शब्द "अरे ना समझो ! एक दिन यह खून तुम्हारे सिर पर चढेगा" - बहुत ही उद्वेगजनक लगते है । उसके हाथों से निकालकर पुलिस जिन पर्चों को उडा देना चाहती है, वे पर्चे स्वयं आने वाली जनक्रांति की सूचना देते हुए स्वयं जनता के हाथों जा गिरते है । यहीं उपन्यास समाप्त होती है ।

इस उपन्यास की नायिका माँ है और माँ का नाम है निलोव्ना व्लासोव । वह नायक पावेल की माँ है और रचना की भी । वास्तव में यह उपन्यास माँ के क्रमिक चारित्रिक विकास का दस्तावेज़ है । उपन्यास के प्रारंभ में माँ अत्यंत डरी हुई, दबी हुई मौन नारी है जो तत्कालीन रूसी नारी की वास्तविक प्रतिमूर्ति है । वह हर अत्याचार का उत्तर आँसुओं से देती रहती है और अपने पति के निष्ठुर व्यवहार का आतंक उस पर हमेशा अंकित है ।

अपने पति की मृत्यु के बाद ही माँ का क्रमिक चरित्र-विकास सम्पन्न होता है । पुत्र पावेल के विचारों से प्रारंभ में उसे डर है, पर सच्चाइयों से अभिभूत होकर माँ भी क्रमशः उन विचारों के प्रति आकृष्ट होती है । गुप्त सभाओं में होने वाले भाषणों और वार्तालापों को माँ गुप्त रूप से सुनती है और उनमें निहित सच्चाइयों को समझने की कोशिश करती है जो मौजूदा समाज की विचारधाराओं का कट्टर विरोधी है । धीरे-धीरे माँ के चरित्र का विकास यहाँ तक होता है कि पावेल और आन्द्रेय को गिरफ्तार करके जेल में डालने पर उनके कामों को माँ खुद ही संभालने लगती है । समाज और सत्ता के अत्याचारों को डटकर मुकाबला करने का साहस उसमें जाग उठता है जिससे उपन्यास के प्रथम भाग के अंत में ही माँ एक निर्भीक क्रांतिकारी बनकर सामने आती है । अपनी अधेड अवस्था में भी पढने और बातों को समझने की लालसा उसमें जाग उठती है । मज़दूरों की जुलूस में सर्वहारा वर्ग के झंडे को ऊँचा उठाने में माँ अपना ऐतिहासिक योगदान निभाती है । पर यह विशिष्ट ध्यान देने योग्य बात है कि क्राँतिकारी माँ कभी भी अपनी नारी सहज मातृस्नेह से वंचित नहीं है । आहत बालकों और बूढे क्रांतिकारियों की

सेवा करना इसका ज्वलंत दस्तावेज है । वास्तव में माँ में उस मातृत्व का विकास होता है जिसके द्वारा वह सारी जनता को अपने ही संतान समझती है एवं उनके दुःख-दर्दों को अपने ही दुःख-दर्द ।

माँ के चरित्र-विकास का यह पक्ष उपन्यास के दूसरे भाग में अधिक स्पष्ट उभरता है । अपने क्रांतिकारी कामों को संभालने के साथ ही साथ वह मरणासन्न येगोर की सेवा करती है, जुलूस में आहत बालक की सेवा एवं मार्ग-दर्शन करती है और गाँवों के अशिक्षित गरीब किसानों की सहायता करती रहती है । अदालत में पावेल के भाषण से वह इतना मंत्र-मुग्ध हो जाती है कि वह किसी भी प्रकार उसका प्रचार करना चाहती है । इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह स्वयं अपनी जिन्दगी को भी खतरे में डालकर प्रयत्न करती है । जासूसों और पुलिस के निर्मम अत्याचारों को वह खुशी के साथ सहन करती है । माँ की अन्तरात्मा में नव चेतना की जो स्फूर्ति जागी है उसे इन अत्याचारों से दबाना असंभव था । इस नव स्फूर्ति की ओर संकेत करके माँ चिल्ला उठती है - "पुनरूज्जीवित आत्मा को तो नहीं मार सकोगे ।"[1] शायद इस उपन्यास का मर्म माँ के इन शब्दों में निहित है और गोर्की की इस रचना का मूल लक्ष्य भी जनता में यह संदेश फैलाना ही है ।

माँ की चारित्रिक विशेषताओं पर विचार करते समय कुछ ऐसे तत्व उभर कर आते है जो माँ को एक ओर विस्मय की मूर्ति बनाते है तो दूसरी ओर उसे विश्वसनीयता की प्रतिमूर्ति । विस्मय और विश्वसनीयता से गोर्की इस पात्र को इस तरह से अलंकृत किया है कि अनुवाचक आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह सकता । माँ को देखकर इसलिए आश्चर्य होता है कि उसमें विश्व-नारीत्व का विकासोन्मुख, क्रियात्मक एवं स्नेहयुक्त स्वरूप मिलता है जो उम्र की सीमाओं को लाँघकर मानवीयता की रक्षा के लिए संघर्ष करने के लिए हमेशा प्रतिबद्ध रहता है ।

---

1. माँ - पृः 384.

क्रांतिकारी विचारों को आत्मसात करना, ढलती हुई उम्र में भी पढाई करना और पुत्रों के अभाव में अपने विश्वास की रक्षा के लिए एवं सन्देश के प्रचार के लिए यंत्रणाएँ सहना माँ को विस्मयकारी व्यक्तित्व प्रदान करने वाले पक्ष हैं । गोर्की माँ के कार्यों को परिस्थितियों के साथ इस तरह जोड दिया कि कहीं भी माँ अविश्वसनीय नहीं लगती । नारी सहज त्याग, सहनशीलता, स्नेह-भाव और गरिमामयी व्यवहार माँ में दिखाई पडता है । उसके चरित्र का एक ओर उज्ज्वल पक्ष है शुभाप्तिविश्वास । पुलिस के हाथों पिटी जाते समय भी आने वाले कल की शुभ-प्रतीक्षा माँ को अविस्मरणीय बनाती है । पारिवारिक जीवन बिताते समय जिस साहस के साथ वह अपने पति की यंत्रणाओं को सहती है, वह भी परंपरागत नारी के एक पक्ष को उभारने वाला है । उपन्यास के प्रारंभ में माँ अत्यंत डरी हुई, दबी हुई मौन नारी है जो तत्कालीन नारी जीवन को वास्तविक प्रतिमूर्ति है । अपने पति के निष्ठुर व्यवहार का आतंक उस पर हमेशा अंकित है और वह हर अत्याचार का उत्तर आँसुओं से देती रहती है । वास्तव में इस उपन्यास का मुख्य पात्र माँ का चरित्र निचले तल से विकसित होते-होते अंत में चारित्रित गरिमा के अत्युन्नत श्रृंगों को छूता है । माँ के चरित्र में परिलक्षित विश्व-माता का रूप विश्व साहित्य में अद्वितीय है, आश्चर्य जनक एवं अनूठा भी ।

गोर्की के "माँ उपन्यास का दूसरा मुख्य पात्र है पावेल व्लासोव जो सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधि है और क्रांतिकारी नेता भी । वह बचपन से उद्दंड स्वभाव वाला है और माँ को बुरी तरह पीटते देखकर वह पिता को हथौडे से मार डालने की धमकी देने का साहस भी रखता है । बचपन से ही अपने परिवार में होने वाले झगडे को देखते-देखते वह रूसी समाज की सही हालत को पहचान लेता है । इसके साथ ही उसके मन में एक प्रकार की निर्ममता का जन्म होने लगता है । बडे हो जाने पर वह गुप्त रूप से क्रांतिकारी पुस्तकों को पढता है और एक सच्चा आदर्शवादी मज़दूर बनता है । समय के बीतने पर वह क्रांतिकारी दल का सदस्य बन जाता है और उनका नेता भी । अपने ही घर में क्रांतिकारियों की सभा बुलाने में भी वह निर्भीक है । सामान्य अन्यायों और अत्याचारों के विरुद्ध वह खुलकर संघर्ष करना

चाहता है । पुलिस की निगरानी का भी डर उसे नहीं है और गिरफ्तार करके जेल में बंद करने पर वहाँ भी वह अपनी निडरता का परिचय देता है ।

मज़दूरों पर अन्याय रूप से जुर्माना थोपने के विरोध में वह आवाज़ उठाता है जिससे पूँजीपति वर्ग भी उसे किसी न किसी प्रकार फँसाकर जेल भेजना चाहता है । पावेल देश में क्रांति लाने में किसानों के योगदान के महत्व को भी समझता है और रीबिन को क्रांतिकारी विचारों के प्रचार के लिए सहायता देता है । उसके नेतृत्व-वैभव के उदाहरण सम्पूर्ण उपन्यास में भरी पडी है । पावेल के दृढ़ संकल्प को दुनिया की किसी भी शक्ति ढाल नहीं सकती । अपने राजनैतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए या अपने आन्दोलनकारी दल के लिए वह कुछ भी त्यागने को तैयार है, यहाँ तक कि अपने पारिवारिक जीवन को एवं वैयक्तिक प्रेम को भी । पावेल और साशा-दोनों प्रणयबद्ध हैं, पर पावेल उस प्रेम को यह कहकर ठुकराता है - "मैं अपने पैरों में कडियाँ डालने वाला या अपने को पीछे की ओर खींचने वाला प्रेम या दोस्ती नहीं चाहता हूँ ।"[1] और अक्सर "मैं निर्णय ले चुका हूँ" - कहकर वह अपने उद्दंड स्वभाव का परिचय भी देता है । और दूसरों पर अपना अधिकार जमाने का भाव भी उसमें सर्वत्र विद्यमान है जैसा कि आन्द्रेय और नताशा के प्रेम-संबंध को भी वही ठुकरा देता है । "कम्यूनिस्ट मानिफेस्टो" से भी वह खूब परिचित है जिसकी गूँज अदालत में उसके भाषण से स्पष्ट होती है ।

इसप्रकार पावेल के चरित्र में एक सच्चे क्रांतिकारी नेता के सभी गुण परिलक्षित हैं और उसे बिल्कुल क्रांतिकारी प्रतिनिधि या आन्दोलनकारी नेता की उपाधि देने में कोई भी आपत्ति नहीं है । पावेल के चरित्र पर सूक्ष्मता और गहनता से विचार करने पर यह सन्देह करने को हम विवश हैं कि क्रांतिकारी बनते-बनते उसके मानवीय पक्ष का लोप हो गया हो । क्योंकि उपन्यास में हमें इसकी अनेक सबूतें मिलती हैं जिससे यह साबित हो जाता है कि माँ या आन्द्रेय में निहित

---

1. माँ - पृ: 138.

मानवीयता की अभिव्यक्ति पावेल में नहीं है । उदाहरण के लिए गुप्तचर ईसा की हत्या पर व्यथित हो जाने वाले आन्द्रेय को पावेल संवेदनाहीन बनकर ऐसा समझाता है - "मैं तुम्हें समझता नहीं हूँ । तुम ने तो उसे नहीं मारा, यदि तुम ने ही मारा था तो भी क्या ?"[1] वास्तव में किसी की हत्या पर आन्द्रेय में उभरने वाले आत्मिक धिक्कार का पावेल में अभाव है ।

पावेल वास्तव में उस युवा पीढी का प्रतिनिधि है जिसका एकमात्र लक्ष्य है - समाजवाद की स्थापना । अदालत में वह स्वयं इस पर बयान देता है । लक्ष्य-प्रेरित होने के कारण उसकी आँखें अन्य किसी भी वस्तु पर रह नहीं पाती हैं । सहज मानवीय संवेदनाओं से वंचित होकर स्त्री के प्रेम को भी वह ठुकरा देता है । पावेल उस निर्जीव युवा पीढी के लिए प्रेरणादायक है जो क्रांति की पंक्तियों को हर दिन हर दम रटना चाहते है । इसलिए गोर्की का यह पात्र युवा शक्ति के उस पक्ष को व्यक्त करता है जो क्रियात्मकता को और मन की ऊर्जा को समाज के दलित, पीडित वर्ग के लिए आरक्षित करना चाहता है, ताकि उनका उद्धार हो और संपत्ति का समान वितरण हो । संपत्ति के संबंध में उसका वक्तव्य इस प्रसंग में स्मरणीय है । इस तरह पावेल माँ को जहाँ एक ओर क्रांतिकारी माँ बनाता है तो दूसरी ओर क्रांति के लिए संबंधों को ठुकराकर कर्मण्यता का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करके जन-सेवा का महान सन्देश देता है । यद्यपि वह मानवीयता के पक्ष से वंचित रह जाता है ।

"माँ" का तीसरा मुख्य पात्र है आन्द्रेय जो बचपन से ही माँ-बाप के प्यार से वंचित है और अब क्रांतिकारी दल का सदस्य भी । उसका अपना कोई घर नहीं है और इसलिए पावेल के साथ रहता है । माँ भी उसे बहुत चाहती है । वास्तव में आन्द्रेय अपने वंचित मातृ-स्नेह को माँ में पाता है । वह समाज में व्याप्त अन्याय और अत्याचारों के कट्टर विरोधी है, परंतु उन्हें समाप्त करने के संबंध में पावेल की तीव्र विचारधाराओं को वह स्वीकारता नहीं है । पावेल के चरित्र में

---

1. माँ - पृः 148.

परिलक्षित कमियों की क्षतिपूर्ति हम आन्द्रेय में देख सकते है । क्रांतिकारी विचारों और आन्दोलन चलाने के संदर्भ में वह शमनकारी नीति का अनुसरण करने वाला है । खुद पढकर और दूसरों को पढाकर उनके बौद्धिक जागरण कराकर ही वह क्रांति चलाना चाहता है । पर सत्ता के साथ टक्कर लेने या जेल जाने से वह कभी नहीं हिचकता । अतः इस उपन्यास में आन्द्रेय का चरित्र एक अत्यंत विचारणीय एवं उदात्त चरित्र बन गया है ।

वास्तव में आन्द्रेय तत्कालीन रूस की उस पीढी का प्रतिनिधि है जो अपने में निहित मानवीयता को पूर्ण रूप से ठुकराकर क्रांतिकारी विचारों के प्रति ही प्रतिबद्ध होने में असफल है । सामाजिक अन्याय एवं अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करके प्रगति की ओर उन्मुख एक शोषण-हीन समाज की स्थापना करना वह अपना चरम लक्ष्य मानता है, पर उसकी प्राप्ति के लिए कभी-भी अमानवीय व्यवहारों का परिचय देना नहीं चाहता । इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हम आन्द्रेय में देख सकते है - यद्यपि उसने गुप्तचर ईस्सा की हत्या नहीं की थी तो भी उसका करुण क्रंदन सुनने पर भी उसे बचा नहीं पाने की आन्तरिक व्यथा से वह आजीवन मुक्त नहीं हो पाता । दलित-पीडित वर्ग के उद्धार के लिए समाजवादी-समाज की स्थापना में वह क्रियाशीलता का परिचय देने के साथ ही साथ मानव में मूल रूप से विद्यमान उन भावों को भी उजागर करता है जो मानव को मानव बनाते है । प्रेम, सहानुभूति, परोपकार, त्याग, साहस, सेवा-भाव आदि मानवीय तत्वों का प्रतिमूर्ति बनकर आन्द्रेय हमारे सामने आता है ।

गहनता से सोचने पर पावेल और आन्द्रेय दोनों एक ही लक्ष्य-प्राप्ति के लिए अग्रसर है - समाजवादी समाज की स्थापना । पर उस लक्ष्य-प्राप्ति के लिए दोनों अलग-अलग मार्गों को स्वीकारते हैं । सम्पूर्ण मानवता को दृष्टि में रखकर परखने पर उस दिशा को ही श्रेयस्कर माना जा सकता है, जिस दिशा में आन्द्रेय बढ रहा है । यद्यपि पावेल जिस दिशा को अपनाता है, वह युगीन अनिवार्यता की ओर इशारा करती है ।

अनाथ क्रांतिकारी आन्द्रेय के चरित्र में उद्दंडता और गंभीरता के स्थान पर कोमलता ही अधिक है । वह अपनी खोए हुए मातृ-स्नेह को माँ में पाता है जिसका प्रमाण है उसका माँ को बहुत प्यार और दुलार के साथ "नोन्को" पुकारना । उद्दंड पावेल माँ को ऐसा नहीं पुकारता । आन्द्रेय ही माँ को पढने की प्रेरणा देता है और जब उसे चश्मे की ज़रूरत पडती है, तब आन्द्रेय ही उसे चश्मा खरीदकर देता है । आन्द्रेय के चरित्र का एक उज्ज्वल पक्ष जासूस ईसा की हत्या के संदर्भ में देख सकते हैं । आन्द्रेय ने उसकी हत्या नहीं की थी और यह भी वह जानता था कि ड्रुगुणोव ने उसकी हत्या की है । आन्द्रेय इसलिए व्याकुल है कि यदि वह चाहता था तो ड्रुगुणोव को ईसा की हत्या करने से रोक सकता था । आन्द्रेय की मानसिक व्यथा देखिए - "अरे दोस्त ! यदि तुम्हें यह मालूम है कि किसी का वध हो रहा है और तुम उसे रोक न पाये तो ।"[1] और आगे वह कहता है - "मैं जिन्दगी-भर उस गंदे धब्बे को धो न पाऊँगा ।"[2] पर पावेल पर ऐसी कोई आन्तरिक व्यथा नहीं है । लेकिन माँ भी इस संबंध में आन्द्रेय के साथ है - "पावेल, तुम कुछ भी कह सकते हो ! मैं जानती हूँ कि किसी को मारना पाप है ।"[3]

वास्तव में आन्द्रेय के चरित्र-चित्रण में गोर्की ने समन्वय की भावना को प्रश्रय दिया है । क्रांति का राजदूत बनकर पावेल अपने रास्ते की हर बाधा को अग्नि में जला देना चाहता है जिसमें स्वयं मानवीयता को भी हवन करने के लिए, वह तैयार रहता है । जबकि आन्द्रेय का दृष्टिकोण क्रांति को स्वीकारते हुए भी कम से कम रक्त-पात के माध्यम से अधिक से अधिक मानव हित की रक्षा करना उचित समझता है । लगता है कि आन्द्रेय और पावेल एक ही सिक्के के दो पहलू है । इस विशिष्ट पृष्ठभूमि में आन्द्रेय का चरित्र अधिक उदात्त, प्रगतिशील और कर्मण्यता के पथ पर अग्रसर व्यक्ति का दीखता है । यहीं पर गोर्की की मानवतावादी दृष्टि कालजयी बनकर वादों के सीमित दायरों से उभर कर अत्यधिक प्रखर होने लगती है । शायद इसी कारण गोर्की सारे विश्व साहित्य में आदर के योग्य बन गये हैं ।

---

1. माँ - पृः 148.
2. वही
3. वही - पृः 149.

पावेल के पिता मिखायेल व्लासोव का चरित्र भी इस उपन्यास में अत्यंत महत्वपूर्ण है, यद्यपि उसका वर्णन उपन्यास के कुछ प्रारंभिक पन्नों में ही समा हुआ हो । उसका डरावना रूप तत्कालीन रूस के शोषित वर्ग का ही विकराल रूप है । कुशल मज़दूर व्लासोव को इस प्रकार गिराने की जिम्मेदारी उस सामाजिक व्यवस्था पर है जिसने हड्डी तोड मेहनत करने के बाद भी मज़दूरों को अपनी भर-पेट भोजन देने से इन्कार किया था । रोजी रोटी कमाने की असमर्थता ही उन्हें इस पतित जीवन की ओर उन्मुख करती है । सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त इन घुटने वाली विषम परिस्थितियों से मुक्ति पाने की लालसा रखने पर भी वे उस दूषित दायरे से निकल पाने में असमर्थ हैं - "गोर्की के माँ उपन्यास के प्रारंभिक पन्नों में "जीवन में व्याप्त संपूर्ण संत्रास" को जिस ओजस्विता के साथ चित्रित किया गया है, वह विश्व साहित्य के पन्नों में भी बहुत कम उपलब्ध है । मिस्त्री मिखायेल व्लासोव का डरावना रूप बिल्कुल अविस्मरणीय है । वह परिस्थितियों से संत्रस्त मज़दूरों की त्रासदीय स्थिति का मानवीकृत रूप है, जो एक दूसरे से अलग होकर जीवन में अपनी-अपनी राह बनाने में प्रयत्नरत है ।"[1]

यद्यपि इस पात्र का चरित्राँकन कुछ सीमित पृष्ठों में किया गया है तो भी वह सम्पूर्ण उपन्यास में अदृश्य रूप से समाया हुआ लगता है । क्योंकि रूस की क्रांति की सारी संभावनाओं को उजागर करने में इस पात्र का योगदान अद्वितीय है । पावेल अपने पिता के कारनामों से घृणा करता है लेकिन पिता के कारनामों को तत्कालीन शोषण के परिणामस्वरूप उभरने वाली प्रतिक्रिया का अंतिम दस्तावेज ही मान सकते है । इसलिए मिखायेल व्लासोव के प्रति उत्पन्न होने वाली घृणा उस सामाजिक व्यवस्था की ओर उभरने वाली है जो उसे आन्तरिक रूप से टूटने को मज़बूर करती है ।

---

1. World literature has offered us few pages which have portrayed the 'all pervading horror of life' as vividly as Gorkey did in the initial pages of 'Mother'. The sinister figure of the fitter Mikhail Vlasov is quite unforgettable, he personifies the tragic situation of the workers oppressed by circumstance, isolated through each one, trying to make his own way in life - Alexander Ovacharenko - Maxim Gorkey and the Literary Quest of the Twentieth Century - p.16.

पावेल की क्रांति इसलिए भी मानवीयता से जुड नहीं पाती क्योंकि व्यवस्था ने पहले ही मानवीयता की हत्या कर दी थी । अतः पावेल के सामने मिखायेल व्लासोव वह निष्ठुर सत्य है जो शोषण के परिणामस्वरूप मज़दूरों को सारी मानवीयता से वंचित कर एक टूटा हुआ कंकाल बना देता है । वस्तुतः गोर्की ने इस बात की ओर भी संकेत किया है कि मिखायेल की शराबी बनना, झगडा करना, पत्नी की पिटाई करना आदि उनकी सहज-वृत्ति न होकर समाज के बुर्जुआ वर्ग के निर्मम शोषण से उभरने वाली कुंठा, संत्रास एवं निराशा का परिणाम है ।

क्रांतिकारी विचारों से प्रभावित गाँव का आन्दोलनकारी रीबिन का चरित्र भी महत्वपूर्ण है । वह डटकर शोषक-वर्ग के विरुद्ध आवाज उठाता है और किसानों को अपने अधिकारों के लिए लडने का आह्वान देता है । पुलिस पहले उसे पकडकर पीटती है और बाद में किसान निकिता के द्वारा पिटवाती है । इस तरह वह पुलिस और अपने वर्ग के किसान के माध्यम से अपमानित होता है । तब वह चिल्लाकर किसानों को समझाता है - यह देख लो, अरे गाँव वालो ! ये जानवर हमें अपने ही हाथों से हमारा गला घोंटने को विवश कर रहे हैं ।"[1] सत्ता के निष्ठुर हाथों से वह बुरी तरह आहत होता है, पर कभी भी अपने क्रांतिकारी विचारों से भटकता नहीं है । वास्तव में रीबिन में क्रांति की प्रतीक्षा करने वाले आस्थावान किसान की तस्वीर उभर आती है ।

"माँ" उपन्यास के अन्य पात्रों में क्रांतिकारी निकलाय इवानोविच, येगोर, निकलाय विसोविष्कोव और गाँव के येफीम, स्तीफान आदि पात्रों के चरित्र भी अत्यंत महत्वपूर्ण है । सामाजिक परिवर्तन के लिए क्रांतिकारी आन्दोलन चलाने में वे सब सक्रिय योगदान देते हैं । इसके अन्य नारी पात्रों में साशा, नताशा, सोफिया आदि मुख्य हैं । वे सब बुद्धिजीवि वर्ग के प्रतिनिधि हैं जो अपने वैयक्तिक जीवन को क्रांतिकारी आन्दोलन के लिए उत्सर्ग कर देते हैं । विशेषकर साशा और नताशा दोनों अपने प्रेम का बलिदान देने के लिए तैयार रहती हैं । क्रांति के

---

1. माँ - पृः 285.

माध्यम से जन-कल्याण का स्वप्न देखने वाले पावेल को बाँधकर रखना आग को बाँधने के समान ही दुष्कर है । नताशा भी आन्द्रेय के प्रति अपने मन में जन्म लेने वाली प्रेम-भावना को नियंत्रित कर देती है क्योंकि आन्द्रेय के रास्ते पर वह एक बाधा बनना नहीं चाहती । इस उपन्यास के दोनों युवा स्त्री पात्र क्रांति के लिए उचित वातावरण तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं ।

इसप्रकार सम्पूर्ण उपन्यास पर दृष्टिपात करने पर हमें ऐसा लगता है कि इसके सभी पात्र समसामयिक जीवन-बोध से पूर्ण रूप से संचालित हुए हैं । जीवन की महत्वाकांक्षाओं की पूजा करने वाले लोगों की अपेक्षा गरीबी, शोषण, अत्याचार एवं क्रूरता से प्रताडित समाज की आकाँक्षाओं को स्वरबद्ध करने वाले वैविध्यात्मक व्यक्तित्व को लेकर उभरने वाले पात्र "माँ" उपन्यास के पात्र-चयन को अद्वितीय बना देते हैं । "माँ के पात्र मस्तिष्क के खिलवाड नहीं, रोमानी कल्पना के शिकार नहीं, बल्कि वे जीवंत ऐतिहासिक काल की उपज है और यथार्थ जीवन से लिये गये हैं । वे तत्कालीन रूस के नर-नारियों के अरमानों को प्रकट करते हैं ।"[1]

संक्षेप में "माँ" के पात्रों पर विचार करते समय हम इस नतीजे पर पहुँचते है कि गोर्की ने अपने पात्रों को अवगुणों से मुक्त नहीं कराया है । बदले उनमें कमियों को भर दिया है । प्रतिभासंपन्न उपन्यासकार गोर्की इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे । सामाजिक अत्याचारों की अग्नि में तपाकर इन पात्रों में गोर्की ने अपने अन्य औपन्यासिक पात्रों की अपेक्षा अधिक आन्तरिक शक्ति को भर दिया है । "इस उपन्यास के सारे ही पात्र प्रबल मनोबल, निश्चय और संघर्ष करने की अद्वितीय क्षमता रखने वाले पात्र है । पहले के उपन्यासों में अधिक से अधिक चरित्र विशेष गुण-दोष के सामने आते हैं, परंतु इस उपन्यास में एक देश की प्रजा के गुण, अवगुण समन्वित चरित्र का व्यापक चित्र हमारे सामने आता है ।"[2]

---

1. नरोत्तम नागर - प्रेमचंद और गोर्की - संपादिका - शचीरानी गुर्टू - पृ:460.
2. डॉ. रमाकांत शर्मा - समाजोन्मुख यथार्थवादी काव्य - पृ: 41.

सम्पूर्ण उपन्यास पर दृष्टिपात करने पर हमें ऐसा लगता है कि यह क्रांतिकारी आन्दोलन की एक जीवंत अभिव्यक्ति है जिसमें लेखक की सृजनात्मक प्रतिभा के माध्यम से सदियों से उत्पीडित मानव आत्मा को मुक्ति का संदेश दिया गया है । "गोर्की के माँ उपन्यास को क्रांतिकारी आन्दोलन का एक सैद्धांतिक साहित्य माना जा सकता है । इस रचना द्वारा जहाँ लेखक ने एक ओर अपनी सर्जनात्मक शक्ति का परिचय दिया है, वहाँ दूसरी ओर अपने देश की महान प्रजा को परंपरित अन्याय के सामने लडने की शक्ति दी है ।"[1] कुत्सित सामाजिक परिस्थितियों से निकालकर मानवीय आत्मा को मुक्त करने की यह छटपटाहट गोर्की के अन्य उपन्यासों में भी विद्यमान है - "उनके उपनयासों में भिन्नता थी, पर वे सब रूसी सामाजिक जीवन की बंद-गली से निकलने की राह ढूँढते हैं ।"[2]

बुर्जुआ वर्ग की निष्ठुर यंत्रणाओं से मुक्ति पाने के लिए संघर्षरत मज़दूर वर्ग का चित्रण करने वाली इस कालजयी रचना में अन्याय और अत्याचारों के विरुद्ध सम्पूर्ण जनता को संघर्ष करते दिखाया है । कथा का संचालन करने वाले पात्र केवल प्रतीक मात्र हैं और वास्तव में संघर्षरत सम्पूर्ण मानवता ही इसका मुख्य पात्र है । अतः यह उपन्यास रूस की एक कहानी मात्र न रहकर सम्पूर्ण मानवता की कहानी बनकर सार्वभौम बन गया है । मानव जीवन में परिवर्तन के माध्यम से नव स्फूर्ति लाने में यह उपन्यास सफल हुआ है । "गोर्की का "माँ" एक ओर युगीन सामाजिक समयोचित तथ्य को इतिहास के रूप में प्रस्तुत करता है और दूसरी ओर सत्य के प्रकाश का व्यापक प्रचार करता है । यह रचना रूस की प्रजा के लिए "गीता" सिद्ध हुई । इस रचना ने रूसी जन समाज को जीवन सत्य से परिचित कराकर अन्याय से लडने की अटूट शक्ति दी ।"[3]

---

1. डॉ. रमाकांत शर्मा - समाजोन्मुख यथार्थवादी काव्य - पृ: 41.
2. Varied as these novels were, they all sought a way out of the impasse Russian social life had come to - B. Bursov - Introduction to Mother - p.6.
3. डॉ. रमाकांत शर्मा - समाजोन्मुख यथार्थवादी काव्य - पृ: 40.

प्रस्तुत रचना के माध्यम से हम गोर्की की सृजनात्मक प्रतिभा से पूर्ण रूप से परिचित हो जाते है । 1905 तक आत-आते वे मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित हो चुके थे, पर अपनी साहित्यिक सृष्टि में इन प्रभावों का पूर्ण रूप हम नहीं देखते । मुख्य पात्र माँ सामाजिक अन्याय और अत्याचारों के संदर्भ में क्रांतिकारी विचारों से तो प्रभावित है, पर सूक्ष्मता से देखने पर माँ का रुख मानवीयता की ओर है । इससे हम यह कह सकते है कि मैक्सिम गोर्की "एक हठवादी की अपेक्षा ऐक कल्पना प्रिय व्यक्ति अधिक थे । यह विशिष्ट रूप में अपने उपन्यास "माँ"में स्पष्ट है जिसमें पिलेयेगा व्लासोवा अपने पुत्र के प्रति स्नेह के कारण क्रांतिकारी के रूप में परिवर्तित होती है और धीरे-धीरे समस्त जनता को अपने पुत्र के समान प्यार करने लगती है ।"[1]

मानवीय अन्तश्चेतना को जगाना एवं उस चेतना के पुनः सृजन से मानवीय अवबोध की विजय की स्थिति की ओर समाज को अग्रसर करना सम्यक मानवीयता के विकास के लिए अनिवार्य है । समूची मानवीय चेतना को पुनः सर्जित कर सीमित संकल्पनात्मक अवबोध से मुक्त कर पुनर्जागरण के आधार पर वर्ग-रहित, शोषण-रहित समाज की स्थापना करना गोर्की के "माँ" उपन्यास का लक्ष्य लगता है ।

तीन पीढी (आर्तमोनोवस्कया दयेला)

1925 में प्रकाशित "दि आर्तमोनोव बिज़िनस" नामक उपन्यास में, जिसका "तीन पीढी" के नाम से हिन्दी में अनुवाद हुआ है, मैक्सिम गोर्की ने क्रांति पूर्व के बुर्जुआ समाज की तीन पीढियों के इतिहास को एक श्रेष्ठ उपन्यास के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है । पूँजीवादी व्यवस्था के अनिवार्य पतन को दिखाना ही

---

1. He was a visionary rather than a dogmalist. This fact is particularly evident in his novel 'Mother' in which Pelagueya Vlasova, through the love of her son becomes converted to the revolutionary cause and gradually comes to love all the people as her children - Frank.N.Magill- Masterpieces of World Literature - p.676.

इस उपन्यास का मुख्य लक्ष्य है । "इस उपन्यास में गोर्की ने रूसी पूँजीवाद के उदभव, विकास और विनाश की कहानी आर्तमोनोव नामक व्यापारी परिवार की तीन पीढियों की जीवन-घटनाओं द्वारा वर्णन किया है ।"[1] गोर्की के उपन्यासों में केवल इसी में ही जनवादी क्रांति का खुलकर चित्रण मिलता है । क्रांति पूर्व के रूसी समाज को विशेषकर बुर्जुआ एवं मज़दूर समाज को अपनी सभी विशेषताओं के साथ इसमे चित्रित किया है । 19 वीं शताब्दी के अंतिम चरणों की जितनी सूक्ष्म व्याख्या इसमें प्राप्त है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । "गोर्की का साहित्य, विशेषकर उनका आर्तमोनोव व्यापार, रूस के जन-जीवन एवं शताब्दी के अंत की उनकी समस्याओं का एक सच्चा विश्व-कोश है । इसमें उदात्त क्रांतिकारी स्वच्छन्तावाद से जुडा हुआ एक सूक्ष्म सामाजिक अवबोध है जो मानव-विकास को अवरुद्ध करने वाली जीवंत परिस्थितियों के विरुद्ध एक प्रतिवाद है, मनुष्य के सर्वतोन्मुख विकास के संदर्भ में उसकी असीम क्षमता पर एक दृढ़ विश्वास है, मानव चरित्र की जटिलता की एक विशिष्ट व्याख्या है, उसकी मानसिक एवं आध्यात्मि विशेषताओं की विविधता एवं जीवन-परिस्थितियों में उसकी निर्भरता का और अंत में "मानव" शब्द की प्रौढ़ गूँज में एक अटल आस्था का होता है ।"[2]

इस उपन्यास में पूँजीवादी बुर्जुआ समाज की तीन पीढियों की कहानी कही गयी है । इसमें प्रथम पीढी इल्या आर्तमोनोव की है, जो सामंती युग का अवशेष है । गाँव से शहर आने पर वह अपनी व्यवहारकुशलता एवं कठिन परिश्रम से पूँजीपति आर्तमोनोव परिवार की नीव डालता है । उसके विचार और

---

1. डॉ. हरीश रायज़ादा - मैक्सिम गोर्की और उनका रचना संसार - पृ: 56.

2. Gorkey's works, especially his Artamonov's is a veritable encyclopaedia of the life of the Russian people and their problems at the turn of the century. It is characterised by a keen social awareness combined with lofty revolutionary remanticism, a protest against the living conditions that were hampering the development of man, a conviction of man's tremendous capacity for all sound advance, a remarkable understanding of the complexity of human nature, the diversit of its mental and spiritual qualities and its dependence on conditions of life, and finally an unswerving faith that the word 'Man' has a proud, sing - Pierra Gamarra - Soviet Literature - p.166.

दृष्टिकोण देहाती जीवन के अधिक निकट है । उसके दो पुत्र है - प्योत्र और निकिता । गोद लिया हुआ अपनी बहिन का पुत्र अलक्सेई को भी वह अपने ही पुत्र के समान प्यार करता है । दूसरी पीढी के प्रतिनिधि पात्रों को अपने व्यापार में पूर्ण रूप से लगाने का प्रयत्न तो आर्तमोनोव करता है, लेकिन पूर्ण रूप से सफलता नहीं मिलती । क्योंकि बडा पुत्र प्योत्र में पूँजीवादियों की व्यवहारकुशलता नहीं है और उसमें एक हीन-भाव, कुंठा और घुटन पैदा होती है जिसके फलस्वरूप वह वेश्यागमन और शराब के मार्ग की ओर उन्मुख होता है । पर फुफेरे भाई अलक्सेई में पूँजीवादी समाज के सभी गुण विद्यमान हैं और वास्तव में आर्तमोनोव के व्यापार को वही आगे बढाता है ।

पिता आर्तमोनोव बडा पुत्र प्योत्र की शादी नतालिया से कराता है जिसके भी मूल में अपना पूँजीवादी लक्ष्य ही काम करता है । प्योत्र के चारित्रिक पतन का एक कारण यह भी है कि वह अपने पिता को नतालिया की माँ बैमकोवा के साथ अवैध संबंध रखते हुए पाता है । आगे चलकर बैमकोवा उसकी रखैल बन जाती है । पिता आर्तमोनोव धनोपार्जन के लिए जिन्दगी-भर काम करता है और एक दिन उसी श्रम के बीच ही दम तोडता है ।

पिता की मृत्यु के बाद प्योत्र और अलक्सेई दोनों मिलकर कारोबारी को आगे बढाते है । उनकी स्वार्थ-लिप्सा इतनी अधिक बढ जाती है कि वे अपने छोटे भाई निकिता की सम्पत्ति को भी हडपना चाहते हैं । निकिता बचपन से ही कुबडा है और काफी हद तक रुग्ण मानसिकता का शिकार भी । वह नतालिया के प्रति बहुत आकृष्ट है । एक दिन निकिता को नतालिया के अन्दर के कपडों को स्नान-गृह में घूमते हुए घर का सेवक तीखोन देखता है । बात खुल जाने के भय से निकिता आत्महत्या करने का प्रयत्न करता है, पर तीखोन उसे बचाता है । प्योत्र और अलक्सेई दोनों निकिता को सुधारना नहीं चाहते हैं और अपने स्वार्थ के कारण निकिता को साधु बनने के लिए मठ जाने का उपदेश देते हैं । अपने भाईयों के स्वार्थ से अवगत निकिता साधु बनता है । पर वहाँ भी उसे जिन्दगी-भर शाँति नहीं मिलती ।

तीसरी पीढी के प्रतिनिधि पात्र है प्योत्र के बेटे इल्या और याकोव । प्योत्र अपने पुत्रों को पढाई के लिए भेजता है और इल्या पूँजीवादी संस्कृति से विरक्त होकर क्रांतिकारी बन जाता है । वास्तव में इल्या एक वैज्ञानिक बनना चाहता था और व्यापार के चक्कर में नहीं पडना चाहता था । पर पिता प्योत्र उसे समझाता है - "कारखाने की चिमनियों की ओर देखो तुम्हारे पूर्वजों ने इसकी नीव डाली थी, अब तुम्हारी बारी है । सीधी सी बात है । तुम्हें और क्या चाहिए[1]" पर इन शब्दों का कोई असर इल्या पर नहीं पडता और वह घर छोडकर चला जाता है और क्रांतिकारी दल के साथ जुड जाता है । साथ ही छोटा पुत्र याकोव आलसी है और उसमें व्यापार को आगे बढाने की कुशलता नहीं है ।

प्योत्र का इतना नैतिक पतन होता है कि वह अपने व्यापार का खयाल छोडकर वारांगनाओं और जिप्सियों के साथ अपनी सम्पत्ति को उडाता रहता है । अलक्सेई की भी मृत्यु हो जाती है जिससे आर्तमोनोव व्यापार का ओर भी पतन हो जाता है । अलक्सेई का पुत्र मज़दूरों के साथ सख्त व्यवहार रखता है और अक्सर मज़दूरों की हडतालें होने लगती हैं । याकोव अपने पिता के समान एक पतित नैतिक जीवन बिताता है और पोलीना नामक वेश्या के जाल में फँसकर अपनी जिन्दगी को नाश के हवन-कुंड में झोंकता है । वह पिता की मृत्यु का बाँट जोहता रहता है । देश में उठने वाली मज़दूर-क्रांतियों से वह परिचित है और इस क्रांति में अपनी सम्पत्ति का सर्वनाश हो जाने के डर से वह हमेशा व्याकुल रहता है । अतः एक दिन वह पोलीना के साथ अपनी सम्पत्ति को लेकर अपने माँ-बाप, घर एवं शहर को छोडकर एक क्रांति-रहित शहर की खोज में निकल पडता है । पर रेल में लुटेरे उसको लूट लेते हैं एवं गाडी से बाहर फेंक देते हैं और वहीं उसकी मृत्यु हो जाती है ।

देश में क्रांति अपनी परकाष्ठा को पहुँच जाती है और एक दिन बूढे प्योत्र को क्रांतिकारी अपने घर से बाहर कर देते हैं । प्योत्र भूख के कारण पत्नी नतालिया को आवाज़ देता है । नतालिया के न आने पर उसे मालूम हो जाता है कि

---

1. आर्तमोनोव - पृः 178.

वह रोटी कमाने के लिए काम करने चली गई है । नतालिया आकर उसे सूखी रोटी देती है पर वह उसे बाहर फेंक देता है । अंत में बूढ नौकर तीखोन उसे समझाता है कि उसे अपने ही पापों का फल मिल रहा है और अब नये सत्य का प्रतीक इल्या जैसे क्रांतिकारियों का युग आ गया है । उपन्यास यहाँ समाप्त होता है ।

रूस की समाजवादी क्रांति के परिप्रेक्ष्य में पूँजीवादी व्यवस्था का उद्भव, विकास और पतन की व्याख्या करने वाली "तीन पीढी" नामक इस उपन्यास में सब पात्र अपने वर्गगत विशेषताओं को रखने वाले प्रतिनिधि पात्र हैं । बुर्जुआ आर्तमोनोव परिवार की नीव डालने वाला इल्या आर्तमोनोव पूँजीपति बना सामंत का प्रतीक है जिसमें पूँजीपति को अपेक्षा एक सामंत का गुण अधिक है । वह कठिन परिश्रमी है, व्यवहारकुशल है, स्वार्थी है और परिस्थितियों के अनुरूप अपनी नीति को मोडने में समर्थ भी । सभी सामंतों की तरह उसको भी नैतिकता गिरी हुई है और नारी को मूलतः भोग की वस्तु समझता है । इस संदर्भ में वह अपने पारिवारिक रिश्तों का भी ख्याल नहीं रखता । लोक-लाज की भी उसे परवाह नहीं है । इसी कारण से ही वह बैमकोवा के साथ संबंध जोडता है जो अपने पुत्र की सास है । धनोपार्जन को ही वह जीवन का चरम ध्येय मानता है । और उसी के प्रयत्न में ही वह अपनी जान गंवा देता है । उसके अंतिम शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि वह बडा परिवार-प्रेमी था । "तुम तीनों" एक साथ रहो । जायदाद का बंटवारा मत करना । झगडा मत करना । शत्रुता से तुम कुछ नहीं पाओगे ।"[1]

दूसरी पीढी के प्रतिनिधि पात्र प्योत्र को इस उपन्यास का मुख्य पात्र मानने में कोई आपत्ति नहीं है । वास्तव में पूँजीवादी व्यवस्था का विकास और पर्याप्त मात्रा में पतन भी उसी के माध्यम से होता है । अलक्सेई के समान एक पूँजीपति के सभी गुण उसमें नहीं हैं या वह भी पिता के समान सामंती गुणों से युक्त पूँजीपति है । उसके चरित्र में अपने पिता की अपेक्षा कमियाँ अधिक दिखाई पडती हैं

---

1. आर्तमोनोव - पृः 83.

वह आलसी है, वाराँगनाओं के साथ ऐशो-आराम में अपनी पैतृक सम्पत्ति का सर्वनाश करने वाला है, व्यवहार-कुशल नहीं है, हीनता-भाव, कुंठा, घुटन आदि रुग्ण मानसिकताओं का शिकार है, स्वार्थी है, ईर्ष्यालू है और बदलती परिस्थितियों का सामना करने में असफल भी । वह इतना क्रूर है कि अपने बच्चों के स्वभाव को कुलीन बनाये रखने के उद्देश्य से अपने नौकर के बच्चे को निर्मम मार डालता है ।

प्योत्र मज़दूरों के साथ कटु व्यवहार करता है और उनका निर्मम शोषण भी करता रहता है । वह समझदार व्यक्ति भी नहीं है । इसलिए ही पुत्र इल्या के विचारों से टक्कर लेता है जिससे इल्या को घर छोडकर चले जाना पडता है । अपने भाई की सम्पत्ति को भी पाने की इच्छा से ही वह उसे मठ भेजता है । वास्तव में प्योत्र जीवन की निर्मम वास्तविकताओं से पलायन करनेवाला पलायनवादी है जो सत्य को आँखें खोलकर देखना नहीं चाहता । शराबखाने के बूढे के इस कथन के साथ प्योत्र भी सहमत होता है कि - "मैं झूठ नहीं बोल सकता क्योंकि मैं सत्य नहीं जानता हूँ । सत्य उस लडकी के समान है जो जवानी में ही रमणीय है ।" - लेकिन सचाई यह है कि वह सत्य तो जानता है, पर उसे स्वीकारने से डरता है ।

जीवन में किये गये पापों के प्रति उसमें अपने अंतिम क्षणों में भी अपराध-बोध तक नहीं जागता । अतः परिवार का नौकर तीखोन उसे फटकारता है - "देख लो, जिन्दगी ने कैसे करवट ली है । मैं हमेशा कहता था कि तुम्हें कठोर परिश्रम करना चाहिए । लो वह दिन भी आ पहुँचा । तुम्हें कूडा-करकट की तरह झाड कर बाहर फेंक दिया गया । प्योत्र इलिच ! शैतान काटता रहा और तुम उसका छुरा तेज करते रहे, किसलिए? तुमने अगिनत पाप किए हैं । तुम्हें देखकर मुझे आश्चर्य होता था और मैं सोचता था कि इसका अंत कब होगा । और अब तुम्हारा अंत आ गया है । तुम्हें अपने कर्मों का फल मिल रहा है ।"[1] उसकी

---

1. आर्तमोनोव - पृः 329.

नैतिकता भी इतनी गिरी हुई है कि वह बिना किसी हिचक के वेश्याओं और जिप्सियों के साथ संबंध रखता है और पत्नी नतालिया को रबड का जूता मानता है जिसकी केवल कीचड में ही जरूरत है । इसके अलावा वह अपने पुत्रों को भी समझने में असफल रह जाता है । इसप्रकार पूँजीवादी व्यवस्था की सभी बुराइयों का जीवंत प्रतीक है प्योत्र जो मोटे तौर पर देखने पर व्यक्ति, परिवार, व्यवस्था एवं देश के पतन का मूल-हेतु है ।

तीसरी पीढी के प्रतिनिधि पात्र इल्या और याकोव दोनों दो विभिन्न ध्रुव की ओर उन्मुख हैं । याकोव पतनोन्मुख पूँजीवादी पीढी का प्रतीक है और इल्या परिस्थितियों से अवगत विकासोन्मुख पीढी का । पिता प्योत्र के चरित्र में जो गुण विद्यमान है, याकोव में उसका भी अभाव है । वास्तव में जीवन में वह एक मूर्ख निकलता है । परिस्थितियों से मुकाबला करने का साहस उसमें बिल्कुल नहीं है । वह अपनी सम्पत्ति एवं वेश्या पोलीना को साथ लेकर एक विलासिता का जीवन बिताने के लिए भाग जाता है । पोलीना एक ऐसी स्त्री है जो याकोव को फँसाने के बाद भी दूसरों के साथ संबंध रखती है । वह उससे कहती है - "यदि एक औरत तुम्हारे साथ विश्वासाघात करती है तो उसका यह मतलब नहीं है कि वह तुमसे प्यार नहीं करती ।"[1] इसके अलावा याकोव स्वार्थी है, पर समझ से काम करने वाला भी नहीं है । वास्तव में पूँजीपतियों के लिए जो चारित्रिक विशेषताएँ अनिवार्य हैं, याकोव में उनका अभाव है ।

जबकि इल्या का चरित्र याकोव के चरित्र का दूसरा पक्ष है । वह समझदार है और स्वयं निर्णय लेने में समर्थ भी । वह परिस्थितियों को समझता है और उनके अनुरूप काम करता है । वह क्रांतिकारी बनता है और अंत में नये सामाजिक सत्य का प्रतीक बन जाता है । "वह रूसी जीवन के उस नये सत्य का प्रतीक है जिसका आरंभ समाजवादी क्रांति के बाद होता है ।"[2]

---

1. आर्तमोनोव - पृ: 303.
2. डॉ. मदनलाल मधु - प्रेमचंद और गोर्की - दो अमर प्रतिभाएँ - पृ: 213.

तीन पीढी में अलक्सेई का चरित्र भी प्रासंगिक है क्योंकि केवल अलक्सेई का चरित्र ही सच्चा पूँजीपति का प्रतिनिधित्व करता है । उसमें परिश्रमशीलता है, धूर्तता है, व्यवहारकुशलता है और स्वार्थ - निष्ठा भी । वास्तव में आर्तमोनोव के व्यापार को प्रगति की ओर ले जाने वाला अलक्सेई है । पूँजीवादी व्यवस्था का विकास उसी के द्वारा ही दिखाया गया है । पूँजीपतियों में सहज रूप से पानेवाले अवगुण भी उसमें विद्यमान हैं जैसे विलासिता, नैतिक पतन आदि ।

गोर्की के "तीन पीढी" उपन्यास में आर्तमोनोव परिवार के नौकर तीखोन का उपन्यास में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है । वह तीनों पीढियों के कार्य-कलापों से परिचित है और उनकी आलोचना करने वाला भी । "इस परिवार के बूढे नौकर तीखोन को गोर्की ने बडी कुशलता और यत्न से रचा है, क्योंकि वह तीनों पीढियों के कार्य-कलापों, भले-बुरे कृत्यों, कहना चाहिए कि उनकी आन्तरिक भावनाओं का दर्पण जैसा है ।"[1] कथावस्तु के संचालन में भी तीखोन अपनी विशिष्ट भूमिका निभाता है । निकिता को वही आत्महत्या से बचाता है और उसके मठ में चले जाने पर उस पर हमदर्दी दिखाने वाला भी तीखोन है । इस उपन्यास में केवल तीखोन में ही हम मानवीयता का अंश देखते हैं । वह प्रारंभ से अंत तक स्वामि-भक्त है और अंत में वही प्योत्र की सहायता करता है । मृत्यु-शय्या पर भी अपने कुकर्मों पर पश्चताप न करने पर तीखोन प्योत्र को धिक्कारता है । तब प्योत्र उससे पूछता है - "आखिर तुम क्या हो? क्या तुम मेरी अन्तरात्मा हो? मेरे न्यायाधीश हो? इन तीस सालों से क्यों तुमने मुझसे कुछ नहीं कहा?"[2]

वास्तव में इन तीन पीढियों की अन्तरात्मा के रूप में ही गोर्की ने तीखोन का चरित्र सृजन किया है । उसके चरित्र पर सूक्ष्मता से देखने पर ऐसा लगता है कि उपन्यास में उसका स्थान एक टिप्पणीकार का है जो उपन्यासकार की

---

1. मदनलाल मधु = प्रेमचन्द और गोर्की - दो अमर प्रतिभाएँ - पृ: 213.
2. आर्तमोनोव - पृ: 332.

मनोवृत्ति के अनुसार काम करता है । "उपन्यास में बूढे नौकर तीखोन का चरित्र बहुत महत्वपूर्ण है । वह तीनों पीढियों के कार्यकलापों को देखता है और यूनानी नाटकों के कोरस की तरह अपनी तटस्थ टिप्पणी करता है ।"[1]

इस उपन्यास में कोई भी नारी पात्र कथा-संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाती है । नतालिया को छोडकर इसमें चित्रित सब नारी पात्र वाराँगनाएँ हैं । गोर्की ने इस उपन्यास में नारी को क्यों ऐसा चित्रित किया है - इस पर विचार करने पर दो बातें हमारे सामने उभर आती हैं । पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत नारी का कोई खास महत्व नहीं होता है और यदि कुछ होता है तो भोग्या का रूप ही । और दूसरा कारण क्रांति पूर्व के रूस के सामाजिक एवं नैतिक पतन को दिखाना था जिससे यह साबित हो जाता है कि तत्कालीन रूसी समाज में समाजवादी क्रांति की जरूरत थी ।

"तीन पीढी" के अध्ययन के बाद हम इस कथन से सहमत होने को विवश है कि उपन्यासकार मूलतः आलोचक और इतिहासकार भी है । रूस की समाजवादी क्रांति को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करके उसे सामाजिक संदर्भों के साथ जोडने वाली इससे श्रेष्ठ रचना विरले ही दिखाई पडती है ।

आलोचकों का यह मत है कि प्रस्तुत उपन्यास की रचना में लेनिन का अत्यधिक प्रभाव पडा है । वैसे पात्र और परिस्थितियों का विश्लेषण करने पर यह विदित होता है कि स्वयं गोर्की में क्रांति और परिवर्तन के प्रति आस्था विद्यमान थी । सामाजिक बुराइयों का पर्दाफाश करके उसे रहने योग्य बनाने का प्रयास इस उपन्यास में हुआ है । जो समाज दूसरों की सम्पत्ति को हडपता है और जिस समाज में स्त्री को वेश्या के सिवा ओर कुछ करना नहीं पडता है या जो समाज

---

1. डॉ. हरीश रायज़ादा - मैक्सिम गोर्की और उनका रचना संसार - पृः 59.

नैतिकता के कब्र स्थान पर खडा होता है, उसका दफनाया जाना एक स्वाभाविक परिणाम मात्र है । वस्तुतः गोर्की ने पूरी सजगता के साथ इस तथ्य को ऐतिहासिक बोध से जोडकर प्रस्तुत किया है, शायद यह जानते हुए भी कि क्रांति के अगमन में बहुत सारी खून की नदियाँ बही थीं । रचना धर्मिता के अनुसार ये नदियाँ उस धरती के लिए आवश्यक हैं जहाँ फिर से नई शक्ति एवं स्फूर्ति के पौधों को उगाने केलिए इन नदियों का बहना और धरती को सींचकर उसे उर्वरा करना आवश्यक है, इतिहास उसका साक्ष्य है ।

क्लिम समगीन की जिन्दगी (षीसन् क्लीमा सॉगीना)

डॉ. हेलन मुज़निक ने गोर्की की रचनाओं के संबंध में कहा था - "गोर्की की रचनाएँ एक ही तत्व का - अपने देश की आध्यात्मिक जडता का अथक प्रलेखन है ।"[1] यह कथन गोर्की की सभी रचनाओं के संबंध में सार्थक है, विशेषकर अपने अंतिम महाकाव्यात्मक उपन्यास "क्लिम समगोन की जिन्दगी" के संदर्भ में जो कि अधूरा है । चार खण्डों वाले इस बृहत् उपन्यास का अंतिम खंड समाप्त कर पाने का सौभाग्य उसे न मिला था और इस कारण से उपन्यास के संबंध में मौलिक रूप से कुछ कहना उपन्यास एवं उपन्यासकार के प्रति अन्याय होगा ।

इस उपन्यास का कथा-पट बहुत ही विशाल है और इसमें पाँच सौ से अधिक पात्र भी है । हर पात्र का अपना ही विशिष्ट स्थान, कार्य एवं व्यक्तित्व है । इस उपन्यास की अधिकांश घटनाएँ एक ही स्थान पर नहीं, बल्कि पीटर्सबर्ग, मोस्को आदि रूसी नगरों में और पेरिस, जनीवा, बर्लिन आदि विदेशी नगरों में

---

1. Gorkey's work is a tireless documentation of a single theme, the spiritual drabness of his country - Helen Muchnic - From Gorkey to Pasternak - p.88.

घटित होती है । उपन्यास का कथा-पट, पात्र-चयन एवं घटनाओं को ध्यान में रखकर परखने से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यह उपन्यास, तालस्ताय के "युद्ध और शांति", दाँते के "दिव्य कामेडी" या गेटे के "फाउस्ट" से टक्कर लेने वाली एक विश्वोत्तर रचना बन सकती थी ।

1917 के समाजवादी क्रांति पूर्व के पिछले चार दशकों की रूसी जिन्दगी की कहानी का आलेखन इस उपन्यास में हुआ है । क्लिम समगीन उपन्यास का नायक है और कथाओं और घटनाओं के बीच की एकमात्र कडी भी । क्लिम स्वार्थी मध्यवर्ग का प्रतीक है । उसके चरित्र द्वारा मध्यवर्ग का पतन दिखाया गया है और मध्यवर्गीय व्यक्तिवादिता का गंभीर विश्लेषण भी । क्लिम एक वकील है और रूसी बुद्धिजीवियों का एक प्रतिनिधि भी । वह क्रांतिकारियों के साथ रहकर अपने को बडा बुद्धिजीवि मानता है । पर वास्तविकता यह है कि वह न तो बुद्धिजीवि है और न क्रांतिकारी भी । उसका जीवन में कोई विशिष्ट उद्देश्य नहीं है और क्रांतिकारियों के साथ रहकर भी उनसे वह घृणा करता है । अतः यह हम कह सकते है कि क्लिम समगीन तथाकथित बुद्धिजीवि वर्ग का एक विशिष्ट प्रतिनिधि पात्र है । "उपन्यास के नायक क्लिम समगीन के रूप में उन्होंने ऐसे बुद्धिजीवि को चित्रित किया है जो निम्न वर्ग से उभर कर कीर्ति और धन अर्जित करता है, परंतु फिर उससे कटकर व्यक्तिवादी और स्वार्थपरायण जीवन बिताने लगता है । अपनी मानसिक संकीर्णता और खोखलेपन के कारण उसका जनता से और क्रांतिकारी विचारधारा से संपर्क टूट जाता है ।"[1] वास्तव में क्लिम समगीन वैयक्तिक स्वतंत्रता का राग आलाप कर ही जनता और क्रांतिकारी विचारधाराओं से कट जाता है ।

इस उपन्यास के अंत के बारे में गोर्की के ही संकेतों के आधार पर यह अनुमान लगा सकता है कि इसका चरम दृश्य 1917 में लेनिन का पेट्रोग्राड आगमन में होता है जहाँ क्लिम समगीन भीड़ के हलचल में कुचला एवं मारा जाता है और

---

1. डॉ. हरीश रायज़ादा - मैक्सिम गोर्की और उनका रचना संसार - पृ: 64.

अपनी नीच संकल्पनाओं के कारण रंगमंच से सदा के लिए तिरोहित हो जाता है । पूर्ण न होने पर भी यह रचना विश्व साहित्य में "बुर्जुआ बुद्धिजीवियों के आत्मिक खोखलेपन, संकीर्णता, स्वार्थ-सिद्धि, सुविधा और जीवनानुकूलता के प्रतीक बन गयी है ।"[1]

अपूर्ण होने के कारण प्रस्तुत उपन्यास के संदर्भ में सही आलोचना प्रस्तुत करना असंभव है । वैसे गोर्की के द्वारा लिखी गयी कथा संबंधी टिप्पणियों से पता चलता है कि उपन्यासकार का लक्ष्य उन मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की आलोचना करना है जो न तो क्रांतिकारी हो सकते हैं और न बुद्धिजीवि भी । अविश्वास और अनिर्णय की गलियों में घूमने वाले ये बुद्धिजीवि अपने को स्वयं धोखे में डालते है और क्रांति के महा प्रलय में बुदबुदों के समान नष्ट हो जाते है । यहाँ तक आते-आते गोर्की में मार्क्सवादी विचारधाराओं के प्रति सजगता और लेनिन के प्रति निष्ठा का विकास होने लगता है । प्रस्तुत उपन्यास इस बात का भी संकेत देता है कि गोर्की क्राँति के बाद राजनैतिक दृष्टिकोण को साहित्य से जोडकर प्रतिबद्धात्मक लेखन की ओर मुडने की बात सोच रहे थे । यहाँ प्रतिबद्धता रूसी जनता के हितों की पूर्ति के उद्देश्य आयोजित क्रांति की सफलता को सामने रखकर चलती है । अतः रचना पर लक्ष्य-बोध हावी होते दिखाई पडता है और स्वतंत्र रचना धर्मिता भंग होते भी । शायद गोर्की की रचना-धर्मिता के विकास का यह एक ओर चरण है जहाँ शुद्ध साहित्यकता का अंत होने लगता है ।

मैक्सिम गोर्की के फोमा गोर्दयेव, वे तीन, माँ, तीन पीढी एवं क्लिम समगीन की जिन्दगी - इन पाँचों उपन्यासों के उपर्युक्त विश्लेषणात्मक अध्ययन से हमें यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि उनके उपन्यास वास्तव में तत्कालीन रूस के

---

1. डॉ. मदनलाल मधु - प्रेमचंद और गोर्की - दो अमर प्रतिभाएँ - पृ: 215.

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संकट का एक सच्चा दस्तावेज़ है । गोर्की-कालीन रूसी-परिस्थितियाँ किस प्रकार समाजवादी क्रांति की भूमिका तैयार कर रही थीं - इसका स्पष्ट प्रलेखन उनके उपन्यासों में हुआ है । साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि निष्ठुर ज़ारशाही शासन के दारुण पंजों में पिसने वाली आम जनता समाजवादी क्रांति की ओर अग्रसर हुए बिना भी नहीं रह सकती थी । रूस में समाजवादी क्रांति लाने के संदर्भ में सर्वहारा वर्ग ही सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था क्योंकि तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक संकट का सबसे बडा शिकार यही वर्ग था ।

छठा अध्याय

गोर्की के उपन्यासों में सामाजिक प्रतिबद्धता

जनवादी कलाकार गोर्की ने अपनी रचनाओं द्वारा समाज के सबसे उत्पीडित सर्वहारा वर्ग को अल्पसंख्यक शोषकों के निष्ठुर हाथों से बचाने का प्रयत्न किया है । समाज के बहु-संख्यक सर्वहारा वर्ग की मुक्ति को ही वे अपनी साहित्यिक साधना का लक्ष्य मानते थे । समाज-मंगल की ओर ही उन्मुख उनकी इस विशिष्ट दृष्टि के कारण उन्हें एक सामाजिक प्रतिबद्ध कलाकार मानने में कोई आपत्ति नहीं है । उनकी सभी रचनाओं में विशेषकर उपन्यास, नाटक एवं कहानियों में हम उनकी इस सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि से परिचित हो जाते हैं ।

जागरूक कलाकार गोर्की अपने समाज के प्रति प्रतिबद्ध हुए बिना रह नहीं सकते थे क्योंकि समाज के हर स्पन्दन को उन्होंने अपने ही वैयक्तिक जीवन में महसूस किया था और इसे अपनी लेखकीय संवेदना को स्थापित करते वक्त अन-देखा करना उनके लिए असंभव था । इसी वज़ह से उनकी अधिकांश रचनाओं में समाज की इन निष्ठुर वास्तविकताओं की सूक्ष्मतम झलक द्रष्टव्य है । "गोर्की के चित्रों में घायल, उत्पीडित जिन्दगी का खौफनाक अक्स है । एक निर्मम दानवी शक्ति ने उन्हें अपने भयानक पाश में जकड रखा है, जहाँ तिमिराच्छन्न दुर्भेद्य पर्दे के भीतर चीत्कार है, कराहट है, असहनीय तडप है । एक घृणित अराजकता सर्वत्र फैली है । अनाचार और शोषण की चक्की में पिसकर इन्सानियत मिट रही है, खंड-खंड हो रही है । वैमनस्य की विषैली बाष्प ने उन्हें नितांत निर्जीव और गतिशून्य बना दिया है ।"[1]

---

1. शचीरानी गुर्टू - प्रेमचंद और गोर्की - पृ:1.

इस निर्जीव और गतिशून्य समाज को जीवंतता एवं गति प्रदान करना गोर्की अपना फर्ज़ मानते थे। गोर्की की रचनाओं में वैयक्तिक जीवन का चित्रण तो अवश्य हुआ है, पर सम्पूर्ण समाज उससे अधिक स्पष्टता और विविधता के साथ उभर आया है। गोर्की ने स्वयं लिखा है - "लेखक के लिए यह महत्वपूर्ण नहीं है कि व्यक्ति कौन है। उसके लिए सर्वाधिक महत्व इस बात का है कि उसके चरित्र सामूहिक-चेतना के वाहक और जन-सामान्य की आकांक्षाओं के प्रतीक बनकर हमारे सामने आँ।"[1]

अतः उनके अधिकाश पात्र अपनी वैयक्तिकता को नकारते हुए सामाजिक चेतना के वाहक बने हुए है। समाज के प्रति ही दिखाई देने वाले उनके इस विशिष्ट झुकाव को ही हम उनकी सामाजिक प्रतिबद्धता मानते है। गोर्की का समाज केवल रूसी समाज नहीं है। व्यापक स्तर पर वह वो समाज है जहाँ शोषकों द्वारा शोषितों का शोषण हो रहा हो। अतः उनकी सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि देश एवं काल की संकुचित सीमाओं का उल्लंघन करके विश्व मानवीयता के व्यापक क्षितिजों से जुडती है। उसे हम गोर्की की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि की पराकाष्ठा मानते है। समाज के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को उन्होंने किस प्रकार अपने उपन्यासों में निभाया है - इसे भली-भाँति समझने एवं परखने के लिए प्रत्येक उपन्यास का प्रतिबद्धात्मक पक्ष का विश्लेषण अनिवार्य है।

---

1. "Who the individual is does not matter what matters is that all these heroes appear before us as carriers of a collective energy, as the mouthpieces of mass desires" Maxim Gorky - Literature and Life - p. 47.

फोमा गोर्दयेव

गोर्की के प्रथम उपन्यास फोमा गोर्दयेव में गोर्की ने "आलोचनात्मक यथार्थवाद" की परंपरागत वस्तु-विषय को आगे बढाकर उन सामाजिक बुराइयों का उद्घाटन किया है जो पूँजीवादी समाज में मनुष्य को या मानवीय आत्मा को नष्ट कर रही है । समाज में मानवीय आत्मा को पुनः प्रतिष्ठित करने के उपलक्ष्य में लिखित इस उपन्यास में हमें निश्चय ही उनकी सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि की झलक मिलती है । नायक फोमा गोर्दयेव पूँजीवादी समाज में जन्म लेकर पूँजीपति बनने पर भी अपने वर्ग के टुटपुँजिया - जीवन से ऊब उठता है एवं अपने ही वर्ग के विरुद्ध विद्रोह का तूफान खडा कर देता है जो गोर्की की प्रतिबद्धत्मक दृष्टि का परिचय देता है । इस विद्रोह में फोमा पराजित होता है क्योंकि "उसका विरोध एकाकी व्यक्ति का प्रतिवाद है जिसे कि अन्य सामाजिक शक्तियों का पता नहीं, । फलतः उसकी दृढता टूट जाती है और उसके स्वप्न नष्ट हो जाते है और जीवन पागलखाने बीतता है ।"[1] सम्पूर्ण समाज को अपने-दानवी हाथों में आबद्ध करने वाली एक सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध फोमा गोर्दयेव को अकेला विद्रोह करते दिखाना एवं इस निष्ठुर व्यवस्था की भयानकतम शोषण-नीति की निर्मम भर्त्सना कराना समाज के प्रति प्रतिबद्ध कलाकार के ही वश की बात है । फोमा अपने वर्ग की निन्दा करने के साथ ही साथ दुनिया-भर के मज़दूरों की मुक्ति के लिए आवाज़ उठाता है । फोमा स्वयं यह जानता है कि - "ये {मज़दूर वर्ग} दूसरों से सर्वथा भिन्न हैं । वे नम्र हैं, शरीफ हैं, बुद्धि भी ठीक हैं, फिर भी ये सिर्फ मज़दूर ही हैं ।"[2] फोमा अपने वर्ग की स्वार्थपरायणता एवं अमानवीयता से परिचित है और साथ ही वैयक्तिक जीवन में व्याप्त कुंठा एवं खोखलेपन से भी । अतः वह अपने पूँजीवादो वर्ग को छोडकर मजदूर वर्ग में जा मिलना चाहता है जिसके माध्यम से अपनी

---

1. डॉ. केसरी नारायण शुक्ल - रूसी साहित्य - पृः 196.
2. फोमा गोर्दयेव - पृः 176

खोयी हुई आत्मा को पुनः प्रतिष्ठित करना चाहता है । व्यापक स्तर पर वह धन के नीचे दबी पडी अपने वर्ग की आत्मा को मुक्त करना चाहता था । टुटपुँजिया जीवन से ऊब कर फोमा को मज़दूर वर्ग की ओर प्रवृत्त होते दिखाने में गोर्की की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि अवश्य झलकती है ।

इस उपन्यास में चित्रित अन्य पूँजीपति-सौदागरों के या "जीवन के स्वामियों" के चित्रण के द्वारा गोर्की यह स्पष्ट करते हैं कि यह वर्ग पूँजी के अर्जन द्वारा सत्ता को भी अपनी ऊँगलियों पर नचाने की शक्ति रखता है पर अपने वैयक्तिक जीवन में वह टूटता जा रहा है । धन को ही सर्वस्व मानने वाले इन लोगों के जीवन में सुख एवं शांति एक कपोल-कल्पना मात्र रह जाती है । उनमें भी कभी-कभी यह भावना जागती है कि वे सम्पत्ति के मालिक नहीं, वरन् गुलाम हैं । यहाँ भी गोर्की की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि स्पष्ट परिलक्षित होती है ।

इस रचना का रचनात्मक लक्ष्य शायद यह प्रदर्शित करना था कि "यह जीवन के मालिक" केवल दूसरों को सताते ही नहीं है वरन् स्वतः भी आदमी नहीं रह जाते । मिल्कियत किस प्रकार मनुष्य की आत्मा को नष्ट करती है - इसका सफल उद्‌घाटन इसमें हुआ है । वास्तव में यह उपन्यास समाज को एक चेतावनी है कि "संस्कृति या ज्ञान यदि धन-वृद्धि की सेवा में लगा दिया जाता है तो यह जनता के उत्पीड़न को और भी तीव्र कर देता है ।"[1] यहाँ भी हमें उनकी प्रतिबद्धात्मक दृष्टि द्रष्टव्य है ।

इस प्रकार कुल मिलाकर देखने पर गोर्की का प्रथम उपन्यास "फोमा गोर्दयेव" उनकी सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का एक महान दस्तावेज है ।

---

1. रूसी साहित्य का इतिहास - डा. केसरी नारायण शुक्ल - पृ: 175

वे तीन

बुर्जुआ समाज में व्यक्ति के जीवन की करुण कथा को प्रदर्शित करने वाले उपन्यास "वे तीन" में भी गोर्की की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि की सफल अभिव्यक्ति हुई है । मुख्य पात्र इल्या ल्यूनोव सामाजिक व्यवस्था से टक्कर लेकर नीचे वालों से ऊपर वालों तक पहुँचना चाहता है पर फोमा गोर्दयेव की तरह वह भी सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध अकेला विद्रोह करता है और असफल रह जाने पर आत्म-हत्या की शरण लेता है । निचले तल से ऊपर उठने की उसकी तडप उसे जीवन में बहुत सारी बुराइयाँ करने को प्रेरित करती है जिससे जिन्दगी-भर वह आत्मा के धिक्कार से मुक्त नहीं हो पाता । धन एवं आदर प्राप्त करने की उसकी अभिलाषा ही उसे पतन की ओर ले जाती है । इल्या के चरित्र के विकास एवं पतन को दर्शाकर गोर्की यह स्पष्ट करते है कि असीम धनोपार्जन की लालसा से व्यक्ति अपनी आत्मा को खोने को विवश बन जाता है । इल्या अपने जीवन के प्रारंभिक दिनों में या एक मज़दूर की जिन्दगी बिताते वक्त जिन मानवीय मूल्यों का अर्जन करता है बुर्जुआ बनने पर भी उनको पूर्ण रूप से भुला नहीं पाता जो आगे चलकर उसके पतन का कारण बनता है । इल्या जब दूसरों के श्रम पर जीने लगता है, तब उसकी जिन्दगी पतन की ओर अग्रसर होती है । इल्या के इस चित्रण में गोर्की की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि की झलक अवश्य मिलती है ।

याकोव फिलिमोनोव शांति, नम्रता एवं विनय का जीवन बिताने वाला है । वह जीवम में अकर्मण्यता एवं नकारात्मक दृष्टि को अपनाकर असफल हो जाता है । सभी तरह की यातनाओं और व्यथाओं को सहन करने पर भी वह सामाजिक बुराइयों का विरोध करने में असमर्थ रह जाता है । यह चारित्रिक कमजोरी उसकी सभी कोमल भावनाओं को विनष्ट करती है और उसे वोद्का के घूँटों में डुबाकर मौत के मुँह तक ले जाती है । याकोव के इस चित्रण से गोर्की यह स्पष्ट करते हैं कि अस्वस्थ सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध विरोध न करके अपने में निहित कोमल भावनाओं को प्रफुल्लित कराने का स्वप्न संजोने वालों की दशा याकोव की ही होगी । अतः

याकोव का चरित्र सामाजिक अन्याय एवं अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करने की ओर पाठक को अग्र सर करता है । यहाँ गोर्की की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का पुट अवश्य मिलता है ।

तीसरा नायक पावेल ग्राचोव क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित करके एक कवि के रूप में जीवन बिताता है । पावेल ही जीवन में सही मार्ग चुन पाता है और उस अंधीगली से बच जाता है जिसमें उसके अन्य दोनों साथी फँसे थे । क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों के साथ मिलकर सामाजिक अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष एवं विरोध का मार्ग स्वीकारना ही गोर्की के लिए सबसे श्रेयस्कर है । पावेल का चरित्र इसका ज्वलंत दृष्टांत है । यहाँ भी गोर्की की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि स्वष्ट परिलक्षित होती है । इस उपन्यास में चित्रित बुर्जुआ पात्रों के माध्यम से गोर्की उनकी घृणास्पद जिन्दगी की अक्स हमारे सामने पेश करते हैं । धनोपार्जन के लिए अपनी आत्मा को भी बेचने वालों की अमानवीय व्यवहारों से परिचित कराकर पाठकों में उनके विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा देना गोर्की की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का सशक्त सबूत है । साथ ही श्रम बेचने वाले मज़दूरों को सामाजिक दुर्व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा भी इस उपन्यास में दी गयी है । अतः कुल मिलाकर देखने पर "वे तीन" उपन्यास भी गोर्की की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का पर्याय है ।

माँ

प्रतिक्रियावादी युग के प्रारंभ में आशा और साहस की स्वर्णिम किरणें बिखरने वाली विश्व-साहित्य की इस प्रमुख रचना "माँ" में गोर्की की मानवीयत की ओर उन्मुख सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि स्पष्ट परिलक्षित हुई है । मानवीय आत्मा का पुनर्जन्म या सम्पूर्ण मानवता का पुनरुत्थान "माँ" उपन्यास की आधारशिला है । क्योंकि माँ के इन शब्दों में ही इस उपन्यास का सार निहित है कि "पुनर्जीवित आत्मा को तो नहीं मार सकोगे ।"[1]

---

1. माँ - पृः 384.

उपन्यास के नाम से ही यह स्पष्ट है कि यह मुख्यतया माँ के चरित्र के विकास का भावात्मक इतिहास है जिसमें दबी-घुटी, अपढ और धर्म-भीरू, अधेड उम्र की नारी पेलगेया निलोव्ना का एक क्रांतिकारी संघर्षकत्री बनने का किस्सा कहा गया है। वह अपनी मानवीयता को विनष्ट किये बिना सामाजिक अन्याय और अत्याचारों के विरुद्ध लडती है और अंत में कुत्सित सामाजिक व्यवस्था के निष्ठुर हाथों में जा फँसती है। गुप्तचरों द्वारा गिरफ्तार किये जाने पर भी और मार-पीट सहने पर भी माँ को सामाजिक अत्याचारों के विरुद्ध निडर होकर संघर्ष करते दिखाने में गोर्की की प्रतिबद्धात्मक दृष्टि सबसे आगे रही है। मानव आत्मा के पुनर्जन्म को दिखाने के लिए ही गोर्की ने उपन्यास का मुख्य पात्र "माँ" को बनाया है। क्रांतिकारं नेता पावेल को उपन्यास का "हीरो" न बनाकर एक अधेड उम्र की माँ को उपन्यास का मुख्य पात्र बनाने में भी गोर्की की प्रतिबद्धात्मकता झलकती है। सारी जनता को अपनी ही संतान मानने की मानवीय दृष्टि माँ में ही उभर सकती है, न पावेल में। इसप्रकार माँ का चरित्र-विकास प्रारंभ से लेकर अंत तक समाज-मंगल की भावना से ही प्रेरित है। माँ के इस चरित्र-चित्रण में वास्तव में गोर्की की ही सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि की अभिव्यक्ति हुई है।

इस उपन्यास का दूसरा मुख्य पात्र क्रांतिकारी नेता बना मज़दूर पावेल का चरित्र पूर्ण रूप से सामाजिक प्रतिबद्धात्मक है। उत्पीडकों के विरुद्ध संघर्ष करने वाले उत्पीडितों का नेता पावेल अपने वैयक्तिक एवं पारिवारिक जीवन को एक स्वस्थ समाज के पुनः निर्माण के लिए छोड देता है। अहं ग्रस्त मानव को अपनी स्वार्थपरायणता के संकुचित दायरों का उल्लंघन करके समाज-मंगल के लिए स्वयं कुर्बान करने की प्रेरणा पावेल के चरित्र में निहित है। यद्यपि उग्रवादी विचार-धाराओं के पोषक नहीं है तो भी पावेल का मित्र आंद्रेय भी सामाजिक अत्याचारों के विरुद्ध जीवन-भर संघर्ष करता है। साथ ही इसमें चित्रित अन्य आन्दोलनकारी भी वैयक्तिक विचारधाराओं में भिन्नता रखने पर भी सामाजिक अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करते है। आन्दोलनकारियों में नारी-पात्रों का भी समावेश करके उन्हें भी सामाजिक अन्याय एवं अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करते दिखाया गया है।

कुल मिलाकर देखने पर इस उपन्यास के अधिकांश पात्र समाज-हित की भावना से प्रेरित सामाजिक प्रतिबद्ध पात्र है । पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था में साधारण जनता किस प्रकार क्रांतिकारी बनने को विवश है, उसका जीवंत चित्रण हमें गोर्की की इस रचना से प्राप्त होता है । माँ, पावेल, आन्द्रेय आदि चरित्रों द्वारा सामाजिक अन्याय एवं अत्याचारों के विरुद्ध सदैव संघर्ष करते रहने की प्रेरणा देना गोर्की की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का श्रेष्ठतम नमूना है । पूँजीपतियों के निष्ठुर शोषण से परिचित कराकर एवं सत्ता के अमानवीय व्यवहारों को दर्शाकर गोर्की सामाजिक दुर्व्यवस्था के विरुद्ध लोहा लेने का आह्वान करते हैं । इस प्रकार गोर्की की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का सबसे ज्वलंत दृष्टांत है उनका उपन्यास "माँ" ।

तीन पीढ़ी

1925 में लिखित "तीन पीढी" नामक उपन्यास गोर्की की एक अतीतोन्मुख रचना है । रूस में पूँजीवाद के उद्भव, विकास और पतन को विषय-वस्तु बनाकर रचित यह उपन्यास वास्तव में पूँजीवाद की मानवतापूर्ण आलोचना है । समाज को अपने दोनों हाथों से शोषण के निष्ठुर पंजों में आबद्ध करने वाली पूँजीवादी सामाजिक-व्यवस्था को स्वयं अपनी ही कब्र खोदते दिखाकर गोर्की ने समाज के प्रति अपनी प्रतिबद्धात्मक दृष्टि को इस उपन्यास में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है । "जो सामाजिक व्यवस्था मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने नहीं देती और किसान को परोपजीवी, धोखेबाज और क्रूर स्वामी बना देती है उसका नाश अवश्यंभावी है । गोर्की का उपन्यास बडी सजीवता के साथ इस कथन की सत्यता प्रमाणित कर रहा है कि "पूँजीवाद के प्रतिनिधि स्वयं अपनी कब्र खोद रहे हैं ।"[1]

---

1. डॉ. केसरी नारायण शुक्ल - रूसी लोक-साहित्य - पृ: 204.

गोर्की ने "तीन पीढी" में इल्या आर्तमोनोव से पूँजीवाद का उद्भव और प्योत्र एवं अलक्सेई से उसका विकास और याकोव और मिरोन से उसका सर्वनाश दिखाया है । दूसरों के श्रम पर जीने वाले "जीवन के स्वामियों" का पतन सामाजिक - क्षेम के लिए अनिवार्य है । असीमित धनोपार्जन से व्यक्ति किस प्रकार पतन को ओर अग्रसर होता है - इसे इस उपन्यास में साफ दिखाया है । पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति अपनी मानवीयता को विनष्ट करने को विवश है जिससे आगे चलकर वह अपने समाज से कट जाता है और वैयक्तिक स्वार्थ के संकुचित दायरों में पडकर पंगु जीवन बिताने को अभिशप्त बन जाता है । तीसरी पीढ़ी के इल्या आर्तमोनोव के द्वारा गोर्की ने इस संकुचित दायरों से छुटकारा पाने वाले पूँजीपति बुद्धिजीवी को हमारे सामने प्रस्तुत किया है । समाज के साथ जुडने से उसका भविष्य अत्यंत श्रेयस्कर बन जाता है । इल्या के द्वारा तीसरी पीढी के इस चित्रण में गोर्की की सामाजिक प्रतिबद्धता अवश्य झलकती है । समाज का खून-चूसकर मोटा बनने वाले दूसरी पीढी के प्योत्र को अंत में कूडा-करकट की तरह बाहर फेंकते दिखाने में भी गोर्की की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि अवश्य द्रष्टव्य है । सामाजिक व्यवस्था के निर्मम प्रहरों को सहते-सहते, अंत में उस सामाजिक व्यवस्था को भी कूडा-करकट की भाँति बाहर फेंकने की शक्ति साधारण जनता या मज़दूरों में दिखाना भी गोर्की की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि का ज्वलंत दृष्टांत है । उपन्यास के अंत में सब व्यक्तियों को अपनी रोज़ी-रोटी के लिए काम करते दिखाने में एवं समाज को अमीर-गरीबों की सीमा-रेखाओं को पार करते दिखाने में भी उनको सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि ही परिलक्षित होती है । गोर्की ने आर्तमोनोव परिवार का नौकर तीखोन के माध्यम से स्वार्थ-रहित जीवन की भंगिमा पर प्रकाश डाला है जो अंत में प्योत्र की अन्तरात्मा का स्वर बन जाता है । एक साधारण नौकर तीखोन के उदात्त चरित्र के द्वारा इस सन्देश को पहुँचाना गोर्की अधिक तर्कसंगत मानते हैं ।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि गोर्की के उपन्यास आत्म-निष्ठ प्रतिबद्धता एवं वाद-विशेष के प्रति प्रतिबद्धता - इन दोनों को नकारते हुए समाज के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को निभाने में पूर्ण रूप से सफल हुए हैं । समाज के प्रति अभिव्यक्त उनकी प्रतिबद्धता देश, काल, एवं संस्कृति की

सीमा रेखाओं का उल्लंघन करके विश्व-मानवीयता की व्यापक आयामों से जा जुडती है । उनके उपन्यासों में सामाजिक प्रतिबद्धता कभी भी रचना की कलावादी प्रतिबद्धता को नकारती नहीं है ।

सामाजिक यथार्थवाद की दृष्टि

सजग कलाकार गोर्की की रचनाएं हमेशा सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि से अनुप्रेरित रही है । उनकी सभी रचनाओं में विशेषकर उपन्यास, नाटक, कहानी एवं कविताओं में यह दृष्टि स्पष्ट परिलक्षित होती है । गोर्की की रचनाओं के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि वे रचनाएं सामाजिक विडंबनाओं में आबद्ध उत्पीडित मानवीय आत्मा की मुक्ति की अमर वाणी हैं । उनकी रचनाओं में विशेषकर उपन्यासों में युगीन आर्थिक आधार का सविस्तार विश्लेषण है, वर्ग-संघर्ष की तलाश है और सर्वहारा वर्ग की पक्षधरता भी ।

प्रथम उपन्यास "फोमा गोर्दयेव" युगीन आर्थिक परिस्थितियों का जीवंत चित्र पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है । पूँजीपतियों के निष्ठुर शोषण-नीति को अपनी सभी विशेषताओं के साथ प्रस्तुत करके सर्वहारा वर्ग की उस विवशता को उभारा है जो उन्हें वर्ग-संघर्ष की ओर अग्रसर करता है । नायक फोमा प्रचलित मान्यताओं और परंपराओं के विरुद्ध अकेला संघर्ष करता है और अपने ही पूँजीवादी वर्ग से हटकर सर्वहारा वर्ग की ओर आकृष्ट हो जाता है ।

दूसरे उपन्यास "वे तीन" में युगीन आर्थिक परिस्थितियाँ ओर भी स्पष्ट रूप से उभर आयी हैं । इसमें सर्वहारा एवं पूँजीपति दोनों वर्गों के आर्थिक आधारों का सविस्तार विश्लेषण हुआ है । प्रचलित मान्यताओं के विरुद्ध संघर्ष करके क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों के साथ जा मिलने वाले पावेल के चरित्र द्वारा

गोर्की ने सर्वहारा वर्ग के प्रति अपनी पक्षधरता को अभिव्यक्त किया है । साथ ही इसमें वर्ग-संघर्ष की भूमिका पर भी सविस्तार विवेचन प्रस्तुत किया है । मुख्य पात्र इल्या प्रचलित मान्यताओं पर चलकर पूँजीपति बनने की ख्वाब देखता है, पर पराजित हो जाने पर वह भी संघर्ष की दिशा में आगे बढता है ।

तीसरा उपन्यास "माँ" गोर्की की सामाजिक यथार्थवादी विचारधारा की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति है । मुख्य पात्र "माँ" समाज में प्रचलित सडी-गली मान्यताओं और परंपराओं के विरुद्ध संघर्ष करती है और सामाजिक व्यवस्था में सुधार लाने का आह्वान देती है । माँ का पुत्र पावेल वास्तव में क्रांतिकारी विचारों की प्रतिमूर्ति है । वह साम्यवादी विचारों के प्रचारक एवं वर्ग-संघर्ष का समर्थक भी है । इस उपन्यास के अधिकांश पात्र क्रांतिकारी विचारों के पक्षधर हैं । इसमें समाज के आर्थिक आधार का जीवंत चित्रण है और वर्ग-संघर्ष के द्वारा सर्वहारा वर्ग की मुक्ति का संदेश भी इसमें निहित है । सामाजिक अन्याय एवं विसंगतियों के विरुद्ध एक अधेड उम्र वाली "माँ" से संघर्ष करते एवं गरीब मज़दूरों और किसानों को मुक्ति का संदेश देते दिखाना गोर्की के यथार्थवादी चेतना का ज्वलंत दृष्टाँत है ।

अंतिम पूर्ण उपन्यास "तीन पीढी" में भी गोर्की के सामाजिक यथार्थवाद का भली-भाँति समर्थन हुआ है । इसमें पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के आर्थिक आधार का सूक्ष्मतम विवेचन है, वर्ग-संघर्ष का खुलकर चित्रण है एवं सर्वहारा वर्ग के स्वप्नों को साकार होते दिखाया गया है । केवल इसी उपन्यास में ही वर्ग-संघर्ष का सविस्तार वर्णन हमें मिलता है । पुरानी मान्यताओं एवं परंपराओं के विरुद्ध संघर्ष करके क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग के साथ जा मिलने वाले तीसरी पीढी के इल्या आर्तमोनोव का चरित्र इस संदर्भ में विशिष्ट रूप से उल्लेखनीय है ।

इस प्रकार गोर्की के संपूर्ण उपन्यास साहित्य पर विचार करते वक्त हमें यह स्वीकारना पडता है कि वे समाज के दुर्बल पक्ष के समर्थन में लेखनी चलाते हुए यथार्थवाद को समाजपरकता पर प्रकाश डालते हुए जनमुक्ति की साहित्य साधना में

आद्यंत प्रवर्तमान रहे हैं । प्रचलि मान्यताओं और परंपराओं के विरुद्ध संघर्ष करके उसमें सुधार या प्रगति लाने की अन्तर्निहित ललक उनमें विद्यमान है । उनके प्रारंभिक उपन्यासों में परिवर्तन की अभिवांछा अवश्य है, पर अन्तिम उपन्यासों तक पहुँचते-पहुँचते उनकी यह अभिवाँछा ऐसी नवीन विचारधारा से जुडती है जो आगे चलकर साहित्य में प्रगतिवाद के नाम से प्रतिष्ठित होती है । परिवर्तन के संदर्भ में गोर्की का यह विचार विशेष रूप से यहाँ उल्लेखनीय है - "साहित्यकार का कार्य केवल बदलते हुए मनुष्य की सूचना भर देना नहीं है, उसका दायित्व है कि वह उन संवेगात्मक प्रक्रियाओं को चित्रित करें जो मनुष्य के परिवर्तन को सामने लाती है ।"[1] मानवीय परिवर्तन को सामने लाने वाली संवेगात्मक प्रक्रियाओं को चित्रित करने में गोर्की की रचनाएँ विशिष्ट रूप से सफल सिद्ध होती हैं ।

गोर्की की यथार्थवादी दृष्टि को अपनी सही मायनों में समझने एवं परखने के लिए उनके कुछ नाटक एवं कहानियों का भी विश्लेषण अनिवार्य है । इस संदर्भ में उनका प्रथम नाटक "टुटपुँजिया" विशिष्ट रूप से उल्लेखनीय है जो दो पीढियों या दो विचार-धाराओं की टुटपुँजिया और क्रांतिकारी विचारों के टक्कराव की कलात्मक अभिव्यक्ति है । इस नाटक का खास महत्व यह है कि इसमें गोर्की ने प्रथम बार "नील" के रूप में मज़दूर-वर्ग के एक ऐसी पात्र की रचना की, जो राजनीतिक चेतना रखता है, अपने वर्ग की क्षमताओं के बारे में सजग है और यह खुलकर घोषणा भी करता है कि "स्वामी वह है, जो श्रम करता है ।"

दूसरा नाटक "रसातल" भी इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है । इसमें बूढा उपदेशक लूका को छोडकर अन्य सभी पात्र अन्यायपूर्ण सामाजिक परिस्थितियों के शिकार, उपेक्षित और जीवन के तल में पहुँचे हुए लोग हैं जो संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन को ख्वाहिश देखते रहते हैं । बंगलेवाले, सूर्य-पुत्र, वहशी, निर्दयी, दुश्मन आदि नाटक भी गोर्की की यथार्थवादी दृष्टि को साकार बनाने वाली रचनाएँ हैं । इनमें भी प्रचलित अन्यायपूर्ण सामाजिक परिस्थितियों के विरुद्ध संघर्ष करने एवं विजय प्राप्त करने का आह्वान निहित है ।

---

1. डॉ. शिवकुमार मिश्र - मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन - इतिहास तथा सिद्धांत - पृ: 264.

गोर्की की सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि पर विचार करते वक्त उनकी कहानियों को अछूता नहीं छोड सकते । रोमानी एवं यथार्थवादी-दोनों परंपराओं की कहानियों में उनकी सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि की झलक हम अवश्य देख सकते हैं । प्रथम कहानी "मकर चुद्रा" में नायक लोइको जोवार और नायिका रद्दा दोनों आज़ादी के लिए अपने वैयक्तिक जीवन को भी नकारने को तैयार रहते हैं और अंत में लोइको अपनी प्रेमिका रद्दा को मार डालने को विवश होता है क्योंकि वह उसकी आज़ादी को कलंकित करना चाहती थी ।

रोमानी परंपरा की दूसरी कहानी "बुढिया इज़रगिल" में नायक दान्को को दूसरों की मुक्ति के लिए अपने वक्ष को चीरकर हृदय को बाहर निकालकर, उसकी चमक से दूसरों का पथ-प्रदर्शन करते चित्रित किया है । रोमानी रंग में लिखित "बाज का गीत", "तूफान का अग्रदूत" आदि कहानियाँ भी इस संदर्भ में महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं । इन रोमानी कहानियों की अन्तरात्मा में प्रचलित सामाजिक परिस्थितियों के विरुद्ध आक्रोश है और उन सामाजिक परिस्थितियों के विरुद्ध संघर्ष करने की अदम्य प्रेरणा है जो व्यक्ति के स्वतंत्र-विकास को अवरुद्ध करती है ।

गोर्की की यथार्थवादी कहानियाँ उन सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण करती हैं जो मनुष्य को पतन की ओर ले जाती है, नारी को वेश्या बनने को विवश करती है और बच्चों से भीख मंगवाती है । इस संदर्भ में उनकी "घण्टा", "ऊब", "भेंट", "उत्पाती", 'नमकसार,' 'ऊब कैसे मिटे,' "विश्वासाघात", "नीली आँखों वाली नारी", "एक बार पतझर में", "येल्काश", "सेमागा कैसे पकडा गया", "छब्बीस और एक लडकी" आदि कहानियाँ विशिष्ट रूप से उल्लेखनीय हैं । इन कहानियों में सामाजिक दुर्व्यवस्था के निर्मम आहतों के कारण जीवन के निचले तलों में पहुँचे लोगों का यथार्थवादी चित्र उभरता है । इन समाजोपेक्षित पात्रों के द्वारा प्रचलित सामाजिक परिस्थितियों में सुधार लाने के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा देना गोर्की की सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि का श्रेष्ठतम उदाहरण है ।

लेखकों - सम्पादकों और बुद्धिजीवियों के घृणित चेहरे को अभिव्यक्त करने वाली "उत्पाती" में नायक निकोलाई, जो प्रेस में काम करता है, दूषित परिस्थितियों एवं उच्च वर्ग की स्वार्थ-निष्ठा के विरुद्ध संघर्ष करता है । "एक बार पतझर में" शीर्षक कहानी में घृणित एवं समाजोपेक्षित वेश्या नताशा भी उन सामाजिक परिस्थितियों के विरुद्ध विद्रोह करती है जो उसे वेश्या बनने को मज़बूर करती हैं । "सेमागा कैसे पकडा गया" नामक कहानी में चोर सेमागा भी उन सामाजिक परिस्थितियों के विरुद्ध संघर्ष करता है जो नारी को अपने नव-जात शिशु को बंडल में लिपटकर गली में छोडने को विवश करती हैं । इसी प्रकार उनकी अन्य यथार्थवादी कहानियों में भी जीवन के गर्त में पहुँचे हुए आवारा, चोर, शराबी आदि पातित समाजोपेक्षित पात्रों के चित्र है जो युगीन परिस्थितियों को विडंबनाओं के विरुद्ध संघर्ष करते हैं ।

इस संदर्भ में गोर्की की प्रसिद्ध कविता "तूफानी चिडिया का गीत" (Song of the Stormy Petrel) भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है । यह गीत वास्तव में अन्यायपूर्ण सामाजिक वातावरण में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने का आह्वान है ।

इस प्रकार गोर्की के संपूर्ण सृजनात्मक साहित्य का विश्लेषण करने पर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि उनकी रचनाएँ सामाजिक यथार्थवादी चेतना से अनुप्राणित हैं । युगीन अर्थ-व्यवस्था के दुष्परिणामों से परिचित कराकर उसके विरुद्ध संघर्ष करके विजय प्राप्त करने की प्रेरणा सर्वहारा वर्ग को देना ही उनकी सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि का सार-तत्व है । लेकिन यह विशिष्ट रूप से ध्यान देने योग्य बात है कि उन्होंने कहीं भी अपनी रचनाओं में किसी पूर्व-ग्रहपूर्ण दृष्टि के आड़ में प्रगतिवादी विचार-धाराओं को भरने का जबर्दस्त प्रयास नहीं किया है । वह सहज-स्वाभाविक रूप से उभर आयी हैं । मानवीय आत्मा की मुक्ति या पुनर्जन्म के व्यापक आयामों से पाठकों को परिचित कराने के लिए गोर्की को अक्सर सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि का सहारा लेना पडा है ।

गोर्की ने जिस सर्वहारा वर्ग के प्रति सहानुभूति की धारा बहाकर संघर्ष के प्रति प्रेरणा प्रदान की थी, वही चेतना आगे एक विश्वव्यापिनी सर्गात्मकता का स्वरूप धारण कर गयी है जो आगे चलकर प्रगतिवाद के नाम से जाने लगी। वैसे सामाजिक यथार्थवाद का वर्ग-संघर्ष की दृष्टि से और साम्यवादी अन्तःप्रेरणा से अभिव्यक्त करना ही इस प्रगतिवादी साहित्य-सर्जन का आधार है। इस विशिष्ट संदर्भ में प्रगतिवाद का संक्षिप्त विश्लेषण अनिवार्य बन जाता है।

समाज आदिम काल से ही निरंतर विकसित होता रहा है और प्रगतिवाद निरंतर प्रगति में आगे बढने की प्रक्रिया में विश्वास रखता है। मानवीय प्रगति में सहायक बनने के उपलक्ष्य में रचित साहित्य ही प्रगतिवादी साहित्य माना जाता है। यह विचारधारा समाज में उपस्थित सामाजिक परिस्थितियों के विरुद्ध हमेशा संघर्ष करती है और उनमें सुधार या परिवर्तन की माँग करती है। "यथावत् बने रहने की इच्छा के विरुद्ध प्रगति, परिवर्तन या सुधार को चाहना या समर्थित करना प्रगतिवाद है।"[1]

प्रगतिवादी साहित्य के अंतर्गत समाज का यथार्थ चित्रण अवश्य होता है। पर प्रगतिवाद हमेशा यथार्थवाद से कुछ आगे अपनी दृष्टि रखता है। यथार्थवाद पाठकों को समाज की निर्मम वास्तविकताओं से एवं कठिनतम सामाजिक परिस्थितियों में जूझने वाली साधारण जनता के चीत्कार से परिचय कराता है। लेकिन प्रगतिवाद उन परिस्थितियों के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा भी देकर उत्पीडित मानवीय आत्मा को मुक्त करना चाहता है। "यथार्थवादी गन्दगी से उत्पन्न होने वाली बीमारियों की ही तरफ देखता है, परंतु दूसरा व्यक्ति उस गन्दगी को

---

1. Favouring or advocating progress, change, improvement or reform as oppossed to wishing to maintain things as they are - Jess Stein - The Random House - Dictionary of English Language.

ढूँढने की चेष्टा करता है जिससे यह बीमारी उत्पन्न हुई है । वह केवल चेष्टा ही नहीं करता है, अपितु इस गंदगी को हटाने के उपाय भी सोचता है और अपने इस प्रयत्न को प्रगतिवाद का नाम देकर एक नवीन वाद की स्थापना करता है ।"[1]

वास्तव में प्रगतिवादी विचारधारा अपनी संपूर्णता में साम्यवादी विचारों के व्यापक परिवेश के साथ जुडती है । "राजनीति में जिसे हम साम्यवाद अथवा समाजवाद कहते है, साहित्य में उसे ही प्रगतिवाद ।"[2] सामाजिक विकास या प्रगति के मूल में जो शक्ति कार्य करती है, उसे कार्ल मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की संज्ञा दी है । यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही मार्क्सवादी दर्शन का सार-तत्व है । मार्क्सवादी दर्शन का केंद्र मानव है और मानव को प्रगति की ओर अग्रसर करना ही उसका मुख्य लक्ष्य होता है । "मार्क्सवाद मानव को अपने दर्शन का केन्द्र मानता है । वस्तुतः मानव और उसका विकास मार्क्सवादी मूल-चेतना है ।"[3]

मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार समाज का आर्थिक-ढाँचा ही मानवीय प्रगति का मूल तत्व है । शोषक और शोषितों के बीच के वर्ग-संघर्ष को दिखाकर शोषकों की पराजय एवं शोषित सर्वहारा वर्ग की विजय की उद्घोषणा करना प्रगतिवादी साहित्य अपना फर्ज मानता है ।

समाज में व्याप्त आर्थिक-विषमताओं के मूल कारणों को ढूँढ निकालकर उन्हें समाप्त करने की प्रेरणा प्रगतिवादी साहित्य पाठकों को देता है । क्योंकि "प्रगतिवादी लेखकों की दृष्टि में वही साहित्य सफल है, जो शोषित मानवों की पीडा, वेदना तथा उनके प्रति किये गये शोषण और अन्याय का पर्दाफाश कर सकें -

---

1. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल - हिन्दी साहित्य में विविध वाद - पृः 264.
2. वही ।
3. डॉ. अजब सिंह - नवस्वच्छन्दतावाद - पृः 75.

मेहनतकश मज़दूरों की आवाज को बुलंद कर सकें । यही साहित्य का समाजवादी यथार्थवाद है जिसमें वह आर्थिक विषमताओं के मूल-कारणों को पहचानता है और उन्हें समाप्त करने की दिशा में समाधान प्रस्तुत करता है ।"[1] आर्थिक विषमताओं को समाप्त करने की दिशा में समाधान प्रस्तुत करते वक्त अक्सर प्रगतिवाद को विध्वंसात्मकता का परिचय देना पडता है । पर इस विध्वंसात्मकता में ही नव सृष्टि का अंकुर निहित है जो प्रचलित प्राचीन व्यवस्थाओं के स्थान पर नव मानववादी सामाजिक व्यवस्था को प्रतिष्ठित करती है । "अतः प्रगतिवादी साहित्य विध्वंस और नव-सृजन दोनों की चेतनाएँ साथ लेकर चलने का आकांक्षी है । वह जीर्ण, रूढ़ और मानवताविनाशी मन्यताओं तथा पुरातन सामाजिक धार्मिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परंपराओं की निष्प्राणता से चिपके रहने के बजाय संघर्ष द्वारा उनका विध्वंस चाहता है । वह पुरानी व्यवस्था की जगह नूतन निर्माण करता है जो नवयुग और नई सामाजिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर संपन्न होता है"।[2]

अतः यह स्पष्ट है कि प्रगतिवादी चिंतन की आत्मा साम्यवाद में निहित है और नव-सृष्टि एवं नव-जागरण की अथक चेष्टाशीलता ही उसका मूल स्वर है । विध्वंस का आह्वान वास्तव में नव-सृष्टि की भूमिका मात्र है। पूँजीवाद के खंडहरों पर सर्वहारा समाज के नव-निर्माण की प्रघोषणा को केवल एक युगीन अनिवार्यता ही मानना समीचीन होगा ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर प्रगतिवादी साहित्य के मूल्यांकन के लिए तीन बातें अनिवार्य हैं - युगीन आर्थिक आधार का विश्लेषण, वर्ग-संघर्ष की तलाश एवं शोषित सर्वहारा वर्ग की पक्षधरता । सम्पूर्ण प्रगतिशील साहित्य का विश्लेषण करने पर उसमें रूढियों का विरोध, क्रांति का आह्वान, शोषकों के प्रति आक्रोश एवं शोषितों के प्रति सहानुभूति, सैद्धान्तिक विवेचना आदि भावनाएँ प्राप्त होती हैं ।

---

1. डॉ. बदरी प्रसाद - प्रगतिवादी हिन्दी उपन्यास - पृः ।।.
2. वही - पृः 13.

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि गोर्की ने प्रगतिवाद को स्थापित नहीं किया है फिर भी प्रगतिवादी चिंतन-धारा का प्राथमिक स्वरूप उनकी रचनाओं में ढूँढा जा सकता है । मार्क्सवाद से प्रभावित होते हुए भी गोर्की की अधिकांश रचनाएँ मार्क्स के सिद्धांतों के समर्थन का और उसके प्रचार का पक्ष न लेकर मानवीय संदर्भों से जुडती है । इसलिए गोर्की का साहित्य प्रचारात्मक साहित्य नहीं है । बदले गोर्की की रचनाएँ प्रपीडित एवं प्रताडित जन-समुच्चय की मुक्ति साधना के संघर्षरत इतिहास का आलेखन बन जाती है ।

साहित्य-साधना

वास्तव में "साहित्य भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति है ।"[1] वास्तविक जीवन के साथ साहित्य का जो संबंध है, उसे ही हम साहित्य की कसौटी स्वीकारते हैं । "हम साहित्य को मुख्य रूप से अपने गहन एवं शाश्वत मानवीय-महत्व की वजह से महत्व देते हैं ।"[2] गोर्की ने साहित्यिक क्षेत्र में "कला कला के लिए" सिद्धांत को नकारते हुए कला को जीवन के लिए ही स्वीकारा है । उनकी सृजनात्मक रचनाएँ यथार्थ जीवन के व्यापक आयामों से जुडकर मानवीय-महत्व की उद्घोषणा करती हैं । इससे आज भी उनकी रचनाएँ प्रासंगिक सिद्ध होती हैं ।

साहित्य के संबंध में गोर्की की विचारधारा मौलिक थी । उसकी अभिव्यक्ति उन्होंने "साहित्य और जीवन, मैंने लिखना कैसे सीखा, शिल्पकारिता संबंधी चर्चा, व्यक्तित्व का विघटन, संस्कृति के निर्माताओं - तुम किसके साथ हो' आदि निबंधों एवं कुछ कहानियों एवं नाटकों के पात्रों द्वारा प्रस्तुत की है । साहित्य के उद्देश्य को उन्होंने "एक पाठक" नामक कहानी में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है - "साहित्य का उद्देश्य है - खुद अपने को जानने में मानव की मदद करना;

---

1. It is thus Fundamentally an expression of life through the medium of language - W.H. Hudson - An introduction to the study of literature - p.10.

2. We care for literature primarily on account of its deep and lasting human - significance - Ibid.

उसके आत्म-विश्वास को दृढ़ बनाना और उसके सत्यान्वेषण को सहारा देना, लोगों की अच्छाइयों का उद्घाटन करना और बुराइयों का उन्मूलन करना, लोगों के हृदय में हयादारी, गुस्सा और साहस पैदा करना, ऊँचे उद्देश्यों के लिए शक्ति बटोरने में उनकी मदद करना और सौन्दर्य की पवित्र भावना से उनके जीवन को शुभ्र बनाना ।"[1]

गोर्की की साहित्य के उद्देश्य संबंधी यह धारणा पर्याप्त मात्रा में भारतीय साहित्यिक सिद्धांतों से मेल खाती है । क्योंकि भारतीय सिद्धांत के अनुसार "साहित्य का काम सृष्टि के अनंत रहस्यों पर प्रकाश डालते हुए मनुष्य की चेतना का परिष्कार करना है, जिससे वह मानवीय सभ्यता के विकास में सहयोग देता हुआ इस अनंत प्रसार के साथ एकता का अनुभव कर सकें ।"[2]

गोर्की के अनुसार खुद अपने को जानने में मानव की मदद करना एवं उसे शुभ्र बनाना साहित्य का लक्ष्य है । पर इसके लिए उन्होंने कभी भी साहित्य में आदर्शवाद का समर्थन नहीं किया था । "दार्शनिक भाववाद या आदर्शवाद को वे पूरी तरह अस्वीकार करते हैं ।"[3] क्योंकि वे आदर्शवाद के खोखलेपन से खूब परिचित थे । अतः उनके सभी पात्र यथार्थ जीवन के प्रतिनिधि हैं । इन यथार्थवादी पात्रों के चरित्र के हरेक कोने की छान-बीन करके उन्होंने पाठकों के सामने परखने एवं जानने के लिए प्रस्तुत किया है । नये मानव-चरित्र के आविष्कार में उन्हें विश्वास नहीं था वरन् चरित्र के "विस्तार" पर वे जोर देते थे । इस संदर्भ में उनके औपन्यासिक नायक विशिष्ट महत्व रखते हैं ।

गोर्की ने अपनी साहित्यिक-यात्रा का प्रारंभ रोमाँसवाद से शुरू किया था । लेकिन उनके रोमाँसवाद में मात्र भावुकता ही नहीं थी, उसमें कर्मशीलता

---

1. डॉ. मदन लाल मधु - चुनी हुई कहानियाँ - पृः 96.
2. डॉ. विश्वंभर मानव - साहित्य के सिद्धांत - पृः 53.
3. डॉ. शिवकुमार मिश्र - मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन - सिद्धांत और इतिहास - पृः 260.

एवं स्वतंत्रता का भी संदेश है । "गोर्की ने अपनी कला की शुरूआत रोमाँसवाद से की । लेकिन वह यूरोप के पतनोन्मुख रोमाँसवाद के बजाय, जिसमें सिर्फ भावुकता ही शेष रह गयी थी, एक स्वतंत्रताप्रिय और कर्मशील किस्म के रोमाँसवाद का कायल था, जिसमें आज़ादी और अमल की भावना प्रत्येक वस्तु पर विजयी हो ।"[1]

मानव-आत्मा का विकास या पुनर्जागरण ही गोर्की की साहित्य-साधना का सार-तत्व है । सुषुप्त मानवीय आत्मा में नव-जागरण का संदेश फूँकने के लिए वे अन्य लेखकों को प्रेरित करते थे । "एक पाठक" कहानी में पाठक लेखक को फटकारता है - "आत्मा के विद्रोह और आत्मा के पुनर्जागरण की आवश्यकता के बारे में लोग कब बोलना शुरू करेंगे? रचनात्मक जीवन को वह ललकार कहाँ है, वीरत्व के दृष्टाँत और प्रोत्साहन के वे शब्द कहाँ हैं, जिन्हें सुनकर आत्मा आकाश की ऊँचाइयों को छूती है? लोगों के दिमागों को अपने घटनाहीन जीवन के फोटोग्राफिक चित्रों का गोदाम बनाते समय अपने हृदय पर हाथ रखकर पूछो कि ऐसा करके क्या तुम नुकसान नहीं पहूँचा रहे हो? क्या तुम जीवन की नब्ज को तेज और उसमें संचार करना जानते हो, जैसे के अन्य लोग कर चुके हैं ।"[2]

मानव-आत्मा के इस पुनर्जागरण को आसानी से अभिव्यक्त करने के लिए ही उन्होंने पतित समाजोपेक्षित नकारात्मक पात्रों को अपनी रचनाओं में प्रामुख्य दिया है । इन पतित पात्रों में भी मानवीयता का अंश ढूँढ निकालकर उनकी आत्मा का पुनर्जागरण या विकास दिखाना गोर्की जैसे श्रेष्ठ कलाकार से ही संभव है । जनता में व्याप्त आत्मीय-दिदृक्षहट से उन्हें बचाना एक युगीन अनिवार्यता बन चुकी थी । यही कारण है गोर्की की अधिकांश रचनाएँ मानवीय आत्मा के नवजागरण पर जोर देती हैं। गोर्की को पूरा यकीन था कि बिना आत्मीय-नवजागरण के जनता को किसी ऊँचे लक्ष्य या आदर्श की ओर अग्रसर कराना असंभव है । युगीन समस्याओं को सुलझाने की शक्ति भी इसी में ही निहित है । यथार्थ-जीवन की कठोर पार्श्वभूमियों से टक्कराकर जीवन के पतित गर्तों में जा गिरने वाले निम्न-मानवों को यही आशा की किरणें बिखेर सकती हैं ।

---

1. शचीरानी गुर्टू - प्रेमचंद और गोर्की - पृ: 441.
2. मदनलाल मधु-प्रेमचंद और गोर्की - दो अमर प्रतिभाएं - पृ: 175.

गोर्की लेखक के इस कर्त्तव्य पर जोर देते है कि उन्हें युगीन-संदर्भों को ही नहीं, भविष्य की आशाओं और संभावनाओं को भी मन में रखकर ही साहित्य सृष्टि करनी है । "साहित्य और जीवन" नामक निबंध में उन्होंने इसे स्पष्ट किया है । मौजूदी स्थितियों का मात्र चित्रण ही काफी नहीं है, हमें यह भी ध्यान में रखना है कि हम जिन्हें पाना चाहते है और जिन उपलब्धियों की आकांक्षा रखते है ।[1] यह लेखक को समाज के भविष्य के प्रति सजग एवं क्रांतिदर्शी बनने की चेतावनी है ।

मानव में निहित दानवत्व को परास्त करके मानवत्व को विजय-सोपानों में प्रतिष्ठित करना वे अपनी साहित्यक साधना मानते थे । इसके लिए उन्होंने व्यक्ति एवं समाज में निहित अच्छाइयों को सफल रूप से अपनी रचनाओं में उद्घाटित किया है और बुराइयों के उन्मूलन पर जोर दिया है । आत्मा का उन्नयन ही उनकी रचनाओं का मूल संदेश है । यह लोंगिनुस के "उदात्त-वाद" से समानता रखता है जिसके अनुसार साहित्य को बुराइयों की काली गुफाओं से मानवीय-आत्मा को मुक्त करना है ।

जीवन में ऊँचे उद्देश्यों को प्राप्त करने में व्यक्ति को प्रेरणा एवं मदद प्रदान करना गोर्की के अनुसार साहित्य का उच्च-लक्ष्य है । लेकिन इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के बहाने साहित्य को किसी भी विशिष्ट वाद-विवाद के प्रचार का माध्यम बनाना उनके लिए स्वीकार्य न था । फिर भी जीवन के श्रेष्ठ उद्देश्यों से पाठकों को परिचित कराने में विशिष्ट वादों की भूमिका को वे मानते थे ।

---

1. "It is not enough merely to depict already existing things, we must also bear in mind the things we desire and the things which are possible of achievement".
Literature and Life - p.145.

मानवतावादी दृष्टि एवं मानवीय मुक्ति का संदेश

"मानवतावाद वह विचारधारा है जो अलौकिक मूल्यों की अपेक्षा मानवीय मूल्यों से या व्यक्ति की अपेक्षा मानवीयता से संबंधित है ।"[1] या "पारलौकिक मूल्यों के स्थान पर इहलौकिक लक्ष्यों को प्रमुखता देने वाली विचारधारा का ही नाम मानववाद है ।"[2] मानवतावाद वास्तव में व्यक्ति को एक उदात्त स्तर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास करता है । मानवीय आदर्शों की परिकल्पना भी इसी पर आधारित है । परंतु इसे किसी भी धर्म या दर्शन के संकुचित दायरों में आबद्ध नहीं किया जा सकता । वास्तव में मानवतावाद इनसे परे होता है । "मानववाद न तो धर्म है और न दर्शन । वह मनुष्य की चेतना और उसके व्यावहारिक ज्ञान से पूर्ण संस्कृति है जो मानवीय मूल्यों का निर्माण करती है । फलस्वरूप किसी दार्शनिक सिद्धांत का न तो उसमें आग्रह होता है और न किसी मत अथवा वाद का हठ ।"[3] यह विचारधारा देश, काल, धर्म, वर्ण एवं भाषा की सीमा-रेखाओं को लाँघकर मानव को गरिमा के अछूते शिखरों पर प्रतिष्ठित करके यह घोषणा करता है कि मानव ही सबसे श्रेष्ठ एवं महान है ।

मानवतावाद के प्रभाव से बच निकलना एक प्रतिबद्ध साहित्यकार के लिए असंभव है । क्योंकि "साहित्य का सरोकार मानव-स्थिति से होता है । इसलिए वह मानव-मूल्यों से, गहरी मानवीय सहानुभूति से, मनुष्य की कुशलक्षेम की चिंता से, मानवता के प्रति गहरे आत्मीय लगाव से प्रेरित होता है । मनुष्य के कुशल-क्षेम की इसी चिंता से लेखक सत्य एवं न्याय की चिंता के लिए प्रेरित होता है ।"[4]

---

1. System of thought concerned with human rather than super-natural values or with humanity rather than individuals - Oxford Dictionary.
2. नवल किशोर - मानववाद और साहित्य - पृ: 12.
3. डॉ. सुरेन्द्रनाथ तिवारी - प्रेमचंद और शरतचन्द्र के उपन्यास - मनुष्य का बिंब - पृ: 106.
4. भीष्म साहनी - अपनी बात - पृ: 134.

और मानवतावादी साहित्यकार समग्र मानवता को अपने परिवेश में कसकर नवीन मानवीय मूल्यों और आदर्शों का निर्माण करता है। प्रचलित वादों और तर्कों से दूर रहकर मानव की समसामयिक जीवन के अनुरूप वह अपने आदर्शों की स्थापना करता है।

यद्यपि गोर्की अपने वैयक्तिक जीवन में नरोदवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि विचारधाराओं से प्रभावित थे तो भी वे मौलिक रूप से एक मानवतावादी ही रहे। यह एक निर्विवाद सच्चाई है। गोर्की का यह कथन ही इसकी गवाही है - "मेरे लिए कोई भी विचार ऐसा नहीं है जो मानव के परे हो। मेरे लिए मनुष्य और सिर्फ मनुष्य ही सभी कार्य और विचारों का सृजनहार है, वह एक अद्भुत-कर्त्ता है और भविष्य में प्रकृति की सभी शक्तियों का स्वामी होगा।"[1] गोर्की के लिए मनुष्य ही सबसे महान है और उसकी शक्ति, स्वतंत्रता एवं विकास को साहित्यिक अभिव्यक्ति देना वे अपना दायित्व स्वीकारते हैं। उनकी समस्त रचनाओं में मानव के गरिमामय स्वरूप की दिव्य गूँज स्पष्ट मुखरित है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे मानव को एक अलौकिक दिव्य परिवेश में ही देखना चाहते हैं। "मैं ने मनुष्य को मनुष्य के रूप में ही देखना चाहा है, वरन् उसे उससे बहतर दिखाना चाहता हूँ।"[2]

गोर्की की समस्त रचनाओं के मूल में उनकी यह मानवतावादी दृष्टि स्पष्ट उभरती है जो जड या निष्क्रिय सहानुभूति-जन्य मानवतावाद को ठुकराकर उसके स्थान पर सक्रिय मानवतावाद की स्थापना करती है। इस सक्रिय

---

1. For me there are no ideas that exist outside man; for me man and only man is the creator of all things and all ideas; he is a miracle - worker and in the future will be the lord of all the forces of nature - Maxim Gorkey - Tales of Italy - Volume-VI - 346.
2. I have always wanted to see man just as he is, but to show him better than he is - Maxim Gorkey - Maxim Gorkey and the Literary Quests of the twenteeth century - By Alexander Ovcharenko - p.117.

मानवतावाद को समर्थित करने के लिए वे अक्सर साम्यवाद की बैसाखियों का सहारा भी स्वीकार करते है । "गोर्की की समस्त रचनाओं का मूल स्वर उनका जागरूक मानवतावाद है ।"[1] अतः गोर्की के जागरूक मानवतावाद की नींव दया या सहानुभूति पर नहीं, उत्साह एवं आत्म-सम्मान पर आश्रित है । गोर्की का आदर्श जीवन के निर्मम झोंकों से पतन के गर्त में गिरे हुए लोगों को और गिरने से बचाना और उन्हें उठने में सहायता प्रदान करना है । वास्तव में उनकी रचनाएँ अभिशाप्त लोगों के ऊपरी आवरण को खोलकर उनके हृदय में बहने वाली मानवीय भावनाओं का कलात्मक उद्घाटन हैं जो यह स्पष्ट करती हैं कि पशुवत जीवन बिताने वाले लोग भी गरिमामय उच्च जीवन की आकाँक्षा रखते हैं ।

गोर्की मानव-जीवन की संभावनाओं और आकांक्षाओं में असीम आस्थावान थे और इसी वजह से पतित मानवों में भी उद्धार एवं उत्थान की आशा-किरण वे देख सकते थे । उनकी सभी रचनाओं में विशेषकर उपन्यासों में मानवतावाद पर आधारित यह आस्थावादी दृष्टि स्पष्ट परिलक्षित हुई है जो मानव के स्वर्णिम भविष्य में साहसिक आस्था रखती है । सडी-गली, जर्जरित सामाजिक व्यवस्था के नीचे दबी पडी मानवीय आत्मा की मुक्ति की बैचैनी को अभिव्यक्त करने वाले उनके प्रथम उपन्यास "फोमा गोर्दयेव" में नायक फोमा में गूँजने वाली आवाज़ वह विद्रोही आत्मा की आवाज़ है जो मुक्ति के लिए संघर्षशील है । गोर्की के सक्रिय मानवतावाद का सबसे ज्वलंत प्रतीक है यह उपन्यास क्योंकि इसमें चित्रित मानवतावाद जड़ या निष्क्रिय भावों पर आधारित न होकर चेतनायुक्त, सक्रिय एवं संघर्षशील तत्वों पर आधारित मानवतावाद है जो दया या सहानुभूति के स्थान पर सक्रियता या संघर्षशीलता को प्रतिष्ठित करता है ।

पतित जीवन बिताने वाले लोगों में निहित मानवीयता के अंश को उभारने वाले उनके दूसरे उपन्यास "वे तीन" भी वास्तव में मानवीय आत्मा की वह दुर्दमनीय लालसा की अभिव्यक्ति है जो जर्जरित सामाजिक व्यवस्था की बंद-गतियों से उन्मुक्त होना चाहती है । इस उपन्यास में निष्क्रिय मानवतावाद की पराजय या

---

1. डॉ. रांगेय राघव - प्रेमचंद और गोर्की - सं. शचीरानी गुर्टू - पृः 446.

खोखलेपन को याकोव के चरित्र द्वारा और सक्रिय मानवतावाद की विजय को पावेल के चरित्र द्वारा उभारा गया है । सक्रिय मानवतावाद तक पहुँचने में असमर्थ मानवीय आत्मा की व्यथा को नायक इल्या के चरित्र द्वारा स्वरबद्ध किया गया है ।

गोर्की का तीसरा उपन्यास "माँ" में उनकी सक्रिय मानवतावादी दृष्टि गरिमा की अछूती पार्श्वभूमियों का संस्पर्श करती है । निष्क्रिय मानवतावाद पर आस्था रखने वाली मुख्य पात्र माँ को सक्रिय मानवतावादी बनते दिखाकर गोर्की ने इस उपन्यास के माध्यम से निष्क्रिय मानवतावाद के समर्थकों को सक्रियता एवं संघर्षशीलता पर आधारित मानवतावाद की ओर अग्रसर होने का आह्वान दिया है । विश्व-भर के सभी लोगों को अपनी ही सन्तान मानकर उनकी सेवा करने वाली माँ का चरित्र आज भी विश्व-साहित्य में सक्रिय मानवतावाद के अथाह तहों को छूने वाला सबसे जाज्वल्यमान नमूना है । सक्रिय संघर्ष में जुडी हुई माँ के चरित्र में प्रेम, सहानुभूति, दया, त्याग, सेवा आदि मूलभूत मानवीय भावों का अभाव नहीं है, वरन् तीव्रता है । ख्याति-प्राप्त समीक्षक धर्मवीर भारती ने "माँ" के आधार पर गोर्की की चिंतना को भारतीय दर्शन के निकट बताया है - "स्पष्ट है कि गोर्की संकीर्ण मार्क्सवाद से महान मानवतावाद पर उठ आया था ।"[1]

गोर्की का अंतिम पूर्ण उपन्यास "तीन पीढी" में भी शोषण पर आधारित पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष में जुडी मानवीय आत्मा की गरिमामयी आवाज़ प्रारंभ से अंत तक गूँज उठती है । इसमें चित्रित सक्रिय मानवतावाद पूर्ण रूप से समाजवादी-आन्दोलन से जुडा हुआ है । वस्तुतः यह सन्देह होता है कि 1925 तक आते-आते गोर्की की विचारधारा में परिवर्तन आ गया हो या लेनिन के जबर्दस्त प्रभाव का यह नतीजा हो ।

गोर्की की मानवतावादी दृष्टि पर विचार करते वक्त उनकी कहानियों और नाटकों को अछूता छोड नहीं सकते । उनकी अधिकांश कहानियों में

---

1. धर्मवीर भारती - प्रगतिवाद - एक समीक्षा - पृः 168.

विशेषकर "मकर चुद्रा, बुढिया इज़रगिल, बाज का गीत आदि रोमाँटिक ढंग की कहानियों में एवं चेल्काश, सोमागा कैसे पकडा गया, एक बार पतझड में, ओलेव दम्पति" आदि यथार्थवादी कहानियाँ विशिष्ट रूप से उल्लेखनीय है । इनमें मुख्य रूप से पतित पात्रों में निहित मानवीयता का चित्रण करके उनके ऊपर उठने की एवं दूसरों को ऊपर उठाने की कहानी कही गयी है ।

गोर्की की मानवतावादी दृष्टि को उजागर करने वाले नाटकों में "लॉवर डेप्त्स" [रसातल या निचले तल] को अन-देखा छोड नहीं सकते । गोर्की का यह सर्वश्रेष्ठ नाटक वास्तव में निष्क्रिय मानवतावाद एवं जागरूक मानवतावाद के बीच के संघर्ष की नाटकीय अभिव्यक्ति है । निष्क्रिय मानवतावाद का प्रतीक बूढा लूका अन्यायों एवं अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष के स्थान पर यह कहकर तसल्ली देने वाला है - "तुम आशा रखो", "तुम भरोसा रखो", "क्षमा करना सीखो" आदि । पर जागरूक मानवतावाद का प्रतीक सातिन यह घोषणा करता है - "इंसान ! कितना अद्भुत शब्द है । उसमें ही सभी आरंभ और अंत है । सभी वस्तुएं इंसान के अंग हैं, सब इंसान के लिए । केवल इंसान ही बना रहता है, शेष सब उसके हाथ और मन की करतूतें हैं । कितना शानदार है इंसान कितनी गर्वीली गूँज है इस शब्द में ...। इन्सान का आदर करना चाहिए, उस पर तरस नहीं खाना चाहिए तरसा तो अपमान है इंसान का ... इंसान का आदर करना चाहिए ।"[1] वास्तव में इससे बढकर मानवीय गरिमा को, उसकी श्रेष्ठता को, उसके महत्व को कैसे उभारा जा सकता है । इस नाटक में गोर्की ने सच्चे जागरूक मानवतावाद का प्रश्न उठाया है - इंसान का आत्म-सम्मान, उसकी क्षमता, उसकी संघर्ष-पिपासा एवं शोषण से मुक्ति पाने के

---

1. Man ! That is tremendous ! It includes all beginnings and all endings. All things are part of Man, all things are for Man. Only Man exists, the rest is merely the work of his hands and mind. How marvellous is man ! How proud the word rings - Man ! A man should be respected. Maxim Gorkey - The Lower Depths - p.94

प्रयत्नों का । लगता है यह तोलस्ताय के शमनवादी दर्शन का एक प्रतिवाद है - "इसमें गोर्की ने परोक्ष रूप से क्षमा, उदारता, सभी से प्रेम करने, सहनशीलता और बुराई का प्रतिरोध न करने के तोलस्तायवादी दर्शन का प्रतिवाद किया है ।"[1]

गोर्की की रचनाओं के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि मानवतावाद उनकी रचनाओं की अन्तर्धारा रही है और मानवतावाद की शक्ति से उनका सारा साहित्य ओजस्वपूर्ण हो गया है । उनका जागरूक मानवतावाद मनुष्य को ही सर्वस्व मानता है और मानव के परे किसी की भी प्रासंगिकता को नकारता है । वे मानव को सभी सृष्टियों का, विचारों और दर्शनों का मुकुट मानते हैं । "वे प्रारंभ से ही एक मानवतावादी थे और अंत तक मानवतावादी ही रहे । और यहाँ तक कि अपनी जिन्दगी के विवादास्पद कार्यों में भी वे इस विलक्षण मानवतावाद से प्रभावित थे ।"[2]

---

1. मदनलाल मधु - प्रेमचंद और गोर्की - दो अमर प्रतिभाएं - पृ: 200.

2. He was a humanist from the beginning, he was a humanist to the last. And even the controversial acts in his life were prompted by his unusual humanism - Lydia Yuryeva - Gorkey's Legacy - p.126.

उपसंहार

उपर्युक्त विश्लेषणात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होने लगता है कि प्रेमचंद और गोर्की दो विभिन्न देशों के श्रेष्ठ एवं जागरूक कलाकार हैं जिन्होंने अपने संपूर्ण जीवन को दमन और शोषण के दारुण पंजों में जकडी हुई मानवीयता को मुक्त करने के लिए अर्पित किया था । सांस्कृतिक एवं वैचारिक भिन्नताओं के होते हुए भी दोनों में अन्तर्निहित मूल-चेतना एक ही है । दोनों कलाकार साहित्य को इस लक्ष्य की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ माध्यम मानते हैं । इन दोनों साहित्यकारों की रचनाओं में यथार्थ मानव-जीवन अपनी सभी विशेषताओं के साथ उभर आया है । उनकी रचनाओं में उस मानव की कहानी है जो दानवता से मुक्त होकर मानवता की ओर लौट आता है ।

समानता की दृष्टि से देखने पर प्रेमचंद और गोर्की - दोनों **जनवादी कलाकार** हैं और **मानवतावादी** दृष्टिकोण को अपनाने वाले भी । दोनों कलाकार दो विभिन्न देशों के या दो विभिन्न जनता के आशाओं एवं आकांक्षाओं को स्वरबद्ध करने वाले हैं । दोनों अमुक देश के सामाजिक परिवेशों से जुडकर कराहती मानवता को शुभ की ओर अग्रसर कराने वाले हैं । वस्तुतः प्रेमचंद और गोर्की दोनों मानवता एवं मानव सद्वृत्ति पर विश्वास रखते हैं और सामाजिक कल्याण की संभावनाओं से निराश नहीं होते । शुभ की प्रतीक्षा, परिवर्तन की प्रतीक्षा और मानव विजय की प्रतीक्षा उन्हें आगे बढाती है ।

प्रेमचंद और गोर्की - दोनों के **साहित्य-संबंधी विचारों** में भी काफी समानताएँ हैं । साहित्य को मानवीयता के विकास के माध्यम के रूप में वे दोनों स्वीकारते हैं । मानव चरित्र में अन्तर्निहित मूल सद्वृत्तियों को जगाकर उसे भव्य एवं उदात्त बनाना ही उनके अनुसार साहित्य का लक्ष्य है । वाद-विशेष की

सीमाओं से घेर कर **साहित्य को** एक **प्रचार-साधन बनाने का** वे दोनों खुलकर **विरोध** करते हैं । व्यष्टिगत एवं समष्टिगत मंगल की भावना से आप्लावित साहित्य को ही वे श्रेष्ठ साहित्य की कसौटी स्वीकारते हैं । प्रेमचंद और गोर्की-दोनों के लिए साहित्य ही एक ऐसा उपादान है जिसके माध्यम से पथराये हुए मानव दिलों में करूणा, दया, प्रेम, सहानुभूति आदि सद्गुणों को जगाकर उनमें नव-जीवन फूँका जा सकता है ।

इसके अलावा **राजनैतिक चेतना** की दृष्टि से भी दोनों में काफी समानताएँ हैं । वे दोनों सत्ता को शोषितों पर अत्याचार करने का साधन नहीं मानते । सभी नागरिकों को समान अधिकार देने के पक्षधर हैं गोर्की और प्रेमचंद ।

इस प्रकार समानता की दृष्टि से दोनों महान लेखक दो महान जनताओं के उद्धार के स्वप्नों को संजोने वाले हैं । इस दृष्टि से दोनों चिरस्मरणीय हो जाते हैं ।

लेकिन असमानता की दृष्टि से देखें तो प्रेमचंद और गोर्की में काफी सीमा तक अन्तर दिखाई पडता है । इसका मुख्य कारण भारत और रूस के **देशगत, साँस्कृतिक एवं वैचारिक भिन्नताएँ** हैं । भारतीय परिवेश एवं संस्कृति में जन्म लेकर प्रेमचंद कभी भी गोर्की नहीं बन सकते हैं और रूसी वातावरण एवं संस्कृति में पलने वाले गोर्की कभी प्रेमचंद । दोनों साहित्यकार अपने-अपने देश की साँस्कृतिक चेतना से अटूट रूप से जुडे हुए हैं और उस चेतना से अलग रहकर वे दोनों कुछ भी नहीं लिख सकते दोनों साहित्यकारों की रचनाओं का विश्लेषण करने पर ये भिन्नताएँ अत्यंत स्पष्ट हो जाती हैं ।

शोषण की समस्या को उभारने के लिए गोर्की ने मज़दूरों को प्रमुखता दी है जबकि प्रेमचंद ने किसानों और अछूतों को । इसका कारण यह है कि रूसी समाज में चारों तरफ फैला हुआ सामाजिक शोषण का सबसे बडा शिकार रहा है

वहाँ का मज़दूर वर्ग । औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप वहाँ के शोषित किसान कृषि छोडकर शहर के मज़दूरों के साथ जा मिले थे । जबकि भारत की स्थिति इससे बिल्कुल भिन्न थी । भारत में निष्ठुर सामाजिक शोषण के प्रतीक के रूप में आते हैं यहाँ के किसान और अछूत वर्ग । साथ ही औद्योगीकरण का प्रभाव प्रेमचंद-युगीन भारतीय समाज में रूस की अपेक्षा बहुत कम पडा था । वस्तुतः दोनों साहित्यकारों ने अपने-अपने देश की स्थितियों को दृष्टि में रखकर ही ऐसा किया है । इसका एक और कारण यह भी हो सकता है कि क्रांतदर्शी गोर्की प्रारंभ से ही इस तथ्य से अभिभूत थे कि सामाजिक परिवर्तन लाने की क्षमता किसानों की अपेक्षा मज़दूरों में अधिक है । इसलिए ही उन्होंने मज़दूरों पर किये जाने वाले अमानवीय शोषण को अत्यंत प्रबलता के साथ उभारा है ।

दोनों साहित्यकारों के **नारी-संबंधी दृष्टिकोण** में भी काफी भिन्नताएँ हैं । प्रेमचंद भारतीय परंपरा के अनुसार नारी को आदर्श रूप प्रदान करना चाहते हैं जबकि गोर्की उसे विशेष पद प्रदान नहीं करते । गोर्की नारी को पूर्ण रूप से स्वतंत्र एक सामाजिक इकाई के रूप में अपनी सभी बुराइयों और भलाइयों के साथ स्वीकारते हैं । उस पर किसी कृत्रिम आदर्श लादने का दुस्साहस नहीं करते । जबकि भारतीय संस्कृति से पूर्ण रूप से प्रभावित प्रेमचंदजी के लिए नारी आदर्शों की एक पूज्य प्रतिमूर्ति है । वस्तुतः प्रेमचंदजी के नारी-पात्र गोर्की के नारी-पात्रों की तुलना में अस्वाभाविक एवं जीवंतता से रहित कठपुतलियाँ मात्र लगती हैं ।

गोर्की में **समस्याओं का समाधान** क्रांति के आधार पर उभरता है जबकि प्रेमचंद अव्यावहारिक आदर्शों के आधार पर उन्हें सुलझाना चाहते हैं । यह ध्यान देने योग्य बात है कि दोनों साहित्यकार सामाजिक परिवर्तन को ही तत्कालीन समस्याओं का समाधान स्वीकारते हैं । लेकिन वह सामाजिक परिवर्तन लाने की दिशा में दोनों अलग-अलग शर्तें अपनाते हैं । गोर्की व्यावहारिक तौर पर क्रांति को ही

सामाजिक परिवर्तन का एकमात्र माध्यम मानते हैं और अव्यावहारिक आदर्शों को पूर्ण रूप से नकारते हैं । किन्तु प्रेमचंदजी मानसिक परिवर्तन जैसे वायवी आदर्शों के द्वारा समाज में परिवर्तन लाना चाहते हैं । प्रेमचंदजी की अधिकांश रचनाओं में परिलक्षित अस्वाभाविकता का मुख्य कारण भी उनका यह अति-आदर्शवादी-सुधारवादी दृष्टिकोण ही है ।

दर असल प्रेमचंद के **आदर्शोन्मुख-यथार्थवाद अव्यावहारिक है,** जबकि गोकी का **समाजवादी यथार्थवाद व्यवहारिक** । प्रेमचंद के यथार्थवाद में आदर्शों का रंग इतना गहरा है कि उनका यथार्थ अंततोगत्वा यथार्थ ही नहीं रह जाता है । लेकिन गोर्की के यथार्थवाद में समाजवादी तत्वों का प्रभाव अवश्य है, पर उनका यथार्थ अंत तक समाज का यथार्थ ही रहता है ।

गोर्की **निडर होकर** हर **सत्य और तथ्य का प्रतिपादन करते** है जबकि प्रेमचंद भय एवं आशंका के भार से दबे रहते हैं । प्रेमचंदजी में भारतीय परंपरा एवं संस्कृति का प्रभाव अत्यंत गहरा है जिससे सामाजिक व्यवस्था या राजनैतिक शोषण की खुलकर निन्दा या विरोध करने से वे हिचकते हैं, पर गोर्की ऐसा नहीं हैं । सडी-गली सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए सामाजिक क्रांति का आह्वान प्रेमचंद कभी नहीं करते । इस दृष्टि से देखने पर प्रेमचंद तालस्ताँय के अधिक निकट हैं, न गोर्की के । क्योंकि तालस्ताँय में भी इस संस्कृति-जन्य **भयवाद का प्रभाव** अत्यंत गहरा है जिसके कारण वे भी सामाजिक परिवर्तन लाने का आह्वान देते समय भी क्रांति का समर्थन नहीं करते ।

संस्कृति-जन्य युगीन बन्धनों को तोड डालने का साहस प्रेमचंद ने कभी नहीं दिखाया है । लेकिन गोर्की उन बन्धनों से मुक्त हैं या उन्हें तोड डालने से हिचकते नहीं है । उपर्युक्त वैचारिक भिन्नता वास्तव में प्रेमचंद और गोर्की को दो अलग-अलग श्रेणियों में प्रतिष्ठित करती हैं ।

गोर्की कहीं भी **समस्याओं का सूत्र पकडकर जीवन को नहीं देखते,** वरन् स्वयं जीवन को लेकर उसका सर्वांगीण निरीक्षण करते हैं । किन्तु प्रेमचंद किसी एक समस्या को लेकर **जीवन को एकांगी** बनाते हैं ।

इसके अलावा दोनों साहित्यकारों के **पात्र-चयन** में भी भिन्नताएँ हैं । प्रेमचंद समाज के सभी वर्गों से अपने पात्रों को चुनते हैं जिनमें पतित एवं निम्न प्रकृति के पात्र भी होते हैं । जबकि प्रेमचंद इस दृष्टि से मर्यादित हैं या एक सीमा तक अस्वतंत्र । गोर्की के अधिकांश पात्र चरित्रहीन पात्र हैं जो समाज के सबसे निचले तल के प्रतिनिधि हैं । उन्हें ही अपनी रचनाओं में नायकत्व के पद पर उन्होंने प्रतिष्ठित किया है । चोर, भिखारी, घुमक्कड, धोखेबाज, वेश्या जैसे पतित पात्रों को नायक के पद पर प्रतिष्ठित करने की कल्पना करना भी प्रेमचंद के लिए दुष्कर है । अतः प्रेमचंद की **नायकीय परिकल्पना** में भी आदर्शवाद का बोझ पडा हुआ है जिसके कारण उनके नायक वास्तविक जीवन के पेचीदे संदर्भों से न जुडकर कल्पित स्थितियों से जुडते हैं ।

प्रस्तुत विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रेमचंद और गोर्की-दोनों साहित्यकार जीर्ण-जर्जरित सामाजिक व्यवस्था की अंधी परंपराओं और रूढियों से संचालित कुत्सित मनोवृत्तियों पर अतृप्ति प्रकट करके जागती हुई जनशक्ति की गतिविधियों को पहचानकर संघर्ष की प्रेरणा देने वाले रहे हैं । भारतीय एवं रूसी परिवेशों की भिन्नताएँ दोनों की रचनाओं को भिन्न श्रेणियों में प्रतिष्ठित करती हैं । पर प्रेमचंद और गोर्की - दोनों **समाज एवं मानवता के प्रति पूर्ण रूप से प्रतिबद्ध** दिखाई पडते हैं । अपनी सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि के कारण दोनों साहित्यकार त्रुटिपूर्ण सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाना अपना साहित्यिक ध्येय मानते हैं । इंसान को इंसान तक न रहने देने वाली पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था से रूसी समाज को उबारकर उसे स्वच्छंद - शोषणहीन समाज के रूप में परिवर्तित करने के लिए गोर्की लालायित हैं तो प्रेमचंदजी जमींदारी एवं पूँजीवादी

शोषणों से उत्पीडित भारतीय समाज को स्वतंत्र बनाकर उसे एक नव-जीवन प्रदान करना चाहते हैं । दोनों मानवीय गरिमा को सर्वश्रिष्ठ स्वीकार कर देश एवं काल के संकुचित दायरों को लांघकर विश्व-मानवीयता की ओर उन्मुख होते हैं ।

संक्षेप में निर्विवाद रूप से हम यह उद्घोषित कर सकते हैं कि **सामाजिक प्रतिबद्धता की दृष्टि से प्रेमचंद और गोर्की के उपन्यास अपना विशिष्ट दायित्व निभाने में समर्थ हैं ।** दोनों की सामाजिक प्रतिबद्धात्मक दृष्टि विशिष्ट समाज के संकुचित दायरों को लाँघकर विश्व-मानवीयता की ओर उन्मुख रही है । लेखकीय दृष्टियों की सीमाएँ एवं संभावनाएँ इस तथ्य पर आधारित होकर उभरती हैं कि मानव की मूल प्रकृति परिवर्तनोन्मुख रहती है । इसलिए भलाई और बुराई की सीमा-रेखाओं में पूर्ण रूप से मानव को आबद्ध नहीं किया जा सकता । लेखकीय दायित्व समाज के परिवर्तनोन्मुख एवं विकासोन्मुख पक्षों को उभारने में ही सफल हो सकता है ।

सन्दर्भ-ग्रंथ-सूचि

प्रेमचंद के उपन्यास

सेवासदन

प्रेमाश्रम

रंगभूमि

कायाकल्प

निर्मला

प्रतिज्ञा

गबन

कर्मभूमि

गोदान

गोर्की के उपन्यास

फोमा गोर्दयेव

त्रिलोजिया ‖ वे तीन ‖

मात्चे ‖ माँ ‖

आर्तमोनोवस्कया दयेला ‖ तीन पीढ़ी ‖

षीसन् क्लीमा साँगीना ‖ क्लिम समगिन की जिन्दगी ‖

1. अपनी बात – भीष्म साहनी
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

2. आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय – धनंजय वर्मा
विद्याप्रकाशन मंदिर, नई दिल्ली

3. आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में राजनैतिक और आर्थिक चेतना – डॉ. पीताँबर सोरदे
जवाहर पुस्तकालय, सदर बाज़ार, मथुरा

4. इटली की कहानियाँ – मौक्सिम गोर्की,
अनुवादक – डॉ. मदन लाल मधु
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, मास्को

5. कहानी का समाजशास्त्रीय आधार – डॉ. सुशील कुमार "फल्ल"
नचिकेता प्रकाशन, ४/19-ए
विजय नगर, दिल्ली

6. कुछ विचार – प्रेमचंद
सरस्वती प्रेस बनारस

7. चुनी हुई कहानियाँ – डॉ. मदनलाल मधु
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, मास्को

8. दस्तावेज – जगदीश चतुर्वेदी
वसुन्धरा पब्लिशिंग हाउस
इन्द्रपुरी, नयी दिल्ली

9. प्रेमचंद और गोर्की–दो अमर प्रतिभाएं – डॉ. मदन लाल मधु
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, मास्को

10. प्रेमचंद की आर्थिक भूमिका – डॉ. सुरेश धींगड
जयश्री प्रकाशन, दिल्ली

11. प्रेमचंद – एक अध्ययन – डॉ. राजेश्वर गुरु
मध्य प्रदेशीय प्रकाशक समिति,
भोपाल

12. प्रेमचंद एक मार्क्सवादी मूल्यांकन – डॉ. जानेश्वर वर्मा,
ग्रन्थम, रामबाग, कानपूर

13. प्रेमचंद विरासत का सवाल – डॉ. शिवकुमार मिश्र
पीपुल्स लिटरेसी, मटिया महल,
दिल्ली

14. प्रेमचंद और नानक सिंह के उपन्यास – डॉ. तिलकराज
जीवन ज्योति प्रकाशन, दिल्ली–6.

15. प्रेमचंद और यथार्थवादी परंपरा – डॉ. राजकुमार शर्मा
दिल्ली स्पूव्ड बुक सेन्टर
पुराना सीलमपुर, पूर्व दिल्ली–31.

16. प्रेमचंद और शरतचन्द्र के उपन्यास मनुष्य का बिंब – डॉ. सुरेन्द्रनाथ तिवारी
सुषमा पुस्तकालय, दिल्ली–51.

17. प्रेमचंद की उपन्यास कला का उत्कर्ष - गोदान – डॉ. कृष्णदेव झारी
नालंदा प्रकाशन, नयी दिल्ली

18. प्रेमचंद और चेखव – डॉ. भक्तराम शर्मा
आर्य प्रकाशन मंडल,
गाँधीनगर, दिल्ली - 31.

19. प्रेमचंद और गोर्की – शचीरानी गुर्टू
राजकमल पब्लिकेशन, बम्बई

20. प्रगतिवाद एक समीक्षा – डॉ. धर्मवीर भारती
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाब

21. प्रगतिवादी हिन्दी उपन्यास – डॉ. बदरी प्रसाद
ओम प्रकाशन, आजादपुर,
दिल्ली - 33.

22. प्रतिबद्धता और मुक्तिबोध का काव्य – प्रभात त्रिपाठी
वाग्देवी प्रकाशन, चन्दन
बीकानेर

23. नव स्वच्छन्दतावाद – डॉ. अजब सिंह
विश्वविद्यालय प्रकाश

24. रूसी साहित्य – डॉ. केसरी नाराय
सरस्वती मंदिर, ट

25. स्त्री साहित्य का इतिहास – डॉ. केसरी नारायण शुक्ल
हिन्दी समिति, सूचना विभाग
उ. प्र. लखनऊ

26. स्त्री लोक-साहित्य – डॉ. केसरी नारायण शुक्ल
सरस्वती मंदिर, जतनबर, बनारस

27. व्यक्तित्व का विघटन – मैक्सिम गोर्की, अनुवादक –
शिवदानसिंह चौहान
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली – 7.

28. मैक्सिम गोर्की और उनका रचना संसार – डॉ. हरीश रायज़ादा
शालीग्राम एण्ड सन्स
रेलवे रोड, अलिगढ़

29. साहित्य और सामाजिक मूल्य – डॉ. हरदयाल
विभूति प्रकाशन, दिल्ली – 32.

30. साहित्य चिंतन – डॉ. जयभगवान गोयल
आत्माराम एण्ड सन्स
कश्मीरी गेट, दिल्ली – 6.

31. साहित्य और आधुनिक युग-बोध – देवेन्द्र इस्सर
कृष्णा ब्रदर्स, कचहरी रोड़ अजमेर

32. समसामयिक हिन्दी कहानी में बदलते पारिवारिक संबंध – डॉ. ज्ञानवती अरोडा
सूर्य प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली-6.

33. साहित्य के सिद्धांत – डॉ. विश्वंभर मानव
किताब महल, इलाहाबाद

34. समाजोन्मुख यथार्थवादी काव्य – डॉ. रमाकांत शर्मा
वाणी प्रकाशन, दिल्ली - 7.

35. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन – डॉ. गणेशन
राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली

36. मार्क्सवादी साहित्य चिंतन - इतिहास तथा सिद्धांत – डॉ. शिवकुमार मिश्र
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी
भोपाल

37. हिन्दी साहित्य में विविध वाद – डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

पत्रिकाएँ

1. दस्तावेज़ – अंक - 40.
2. भाषापोषिणी – (मलयालम) अप्रैल-मई 1992.

अंग्रेज़ी ग्रंथ

1.	An introduction to the Study of Literature	-	W.H.Hudson
2.	A short History of U.S.S.R.	-	S. Alexeyev Progress Publishers, Moscow.
3.	Gorkey's Legacy	-	Lydia Yuryeva Raduga Publishers Moscow
4.	From Gorkey to Pasternak	-	Helen Muchnic Vintage Books, Random House, New York.
5.	Modern Hindi Fiction	-	Dr. Ram Darsh Misra Bansal & Co., K-16 Naveen Shahdara, New Delhi.
6.	Masterpieces of World Literature	-	Frank.N.Magill Harper & Row Publishers, New York, Evanston.

7. Premchand - an Anthology - Dr.Nagendra
Bansal and Co., K-16
Naveen Shahdara, Delhi.

8. Literature and Life - Maxim Gorkey
Progress Publishers,
Moscow.

9. Lower Depths - Maxim Gorkey
Progress Publishers,
Moscow

10. Revolution - Jack London
Raduga Publishers
Moscow

11. Selected Stories - Antony Hunarchsky
Progress Publishers
Moscow

12. Maxim Gorkey and the Literary quest of the twentieth century - Alexander Ovacharenko
Raduga Publishers, Moscow

Progress Publishers,
Moscow

14. The Random House Dictionary of English Language - Jess Stein

15. Oxford Dictionary